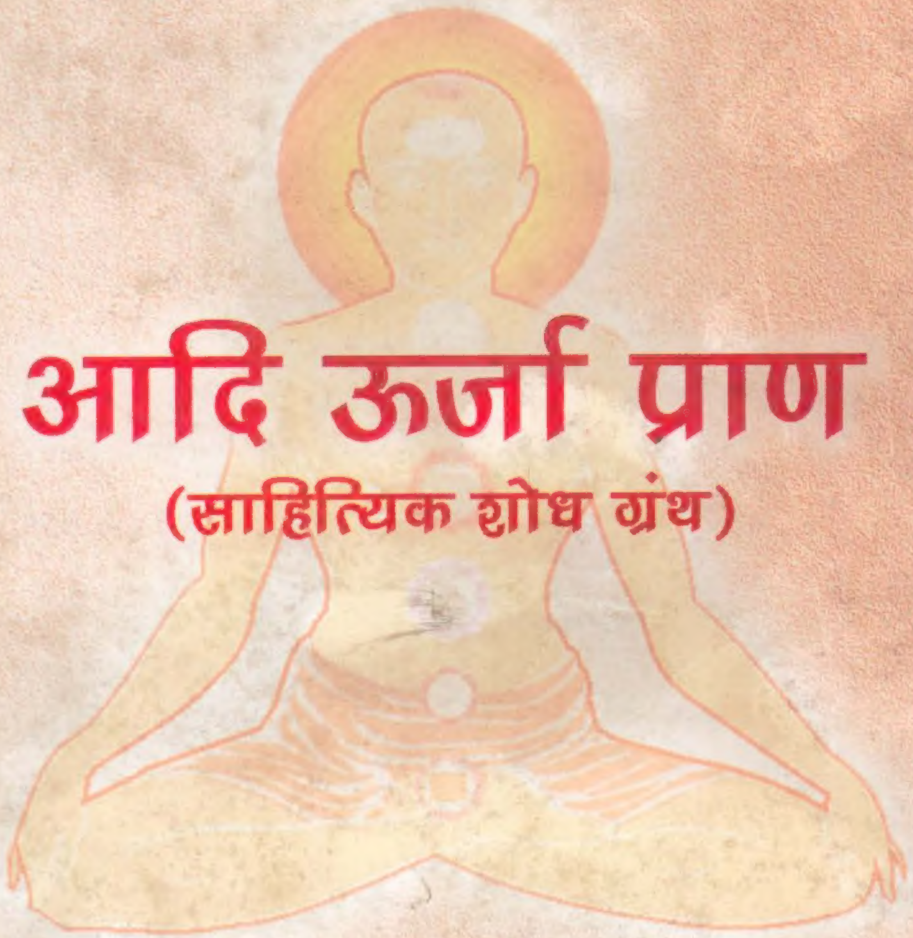


आदि ऊर्जा प्राण

(साहित्यिक शोध ग्रंथ)

अमृता भारती

आदि ऊर्जा प्राण

(साहित्यिक शोध ग्रंथ)

अमृता भारती

आदि ऊर्जा प्राण

(साहित्यिक शोध ग्रंथ)

मुख्य शोधार्थी

अमृता भारती



केन्द्रीय योग एवं प्राकृतिक चिकित्सा अनुसंधान परिषद्

नई दिल्ली–110058

प्रथम संस्करण : 2002 प्रतियाँ : 500
द्वितीय संस्करण : 2004 प्रतियाँ : 1000
मूल्य : 100 रू.

प्रकाशक :
केन्द्रीय योग एवं प्राकृतिक चिकित्सा अनुसंधान परिषद्
(आयुष विभाग, स्वास्थ्य एवं परिवार कल्याण मंत्रालय, भारत सरकार)
61-65, संस्थागत क्षेत्र, जनकपुरी, नई दिल्ली-110058
दूरभाष : 25534717, 25557602, 25543725
फैक्स : 25613269
ई-मेल : ccryn@nda.vsnl.net.in
वेबसाईट : www.ccryn.org

मुद्रक :
अनुभव प्रिन्टोग्राफिक
WZ-1045/2, नांगल राया, नई दिल्ली-110 046
दूरभाष : 28521003, मोबाईल : 9810216074

भूमिका

'केन्द्रीय योग एवं प्राकृतिक चिकित्सा अनुसंधान परिषद्' योग एवं प्राकृतिक चिकित्सा के क्षेत्र में चिकित्सकीय अनुसंधान के साथ-साथ तत्सम्बन्धी साहित्यिक अनुसंधान की गतिविधियों को भी प्रोत्साहित करने का प्रयास करती रही है। भारतीय प्राचीन शास्त्रों में योग के अनेक आयामों का विस्तृत विश्लेषण प्राप्त है। इसी प्रकार प्रकृति के अनेक तत्वों का भी। उनमें उपलब्ध चिकित्सा के लिए उपयोगी आवश्यक साम्रगी का शास्त्रीय साहित्यिक अनुसंधान प्रक्रिया द्वारा प्रकाश में लाया जा सके, स्थापना के समय से ही केन्द्रीय परिषद् इस दिशा में प्रयत्नशील रही है।

इसी क्रम में परिषद् ने 'स्वामी विवेकानन्द योग अनुसंधान संस्थान', बैंगलोर को 'प्राण एवं चेतना' विषय पर साहित्यिक अनुसंधान परियोजना की स्वीकृति प्रदान की थी। इस परियोजना के अन्तर्गत डा० अमृता भारती ने 'आदि ऊर्जा प्राण' शोध-ग्रंथ प्रस्तुत किया। विद्वान् पाठकों एवं शोधकर्ताओं द्वारा प्रशंसित इस ग्रंथ का दूसरा संस्करण प्रस्तुत करते हुए मैं हर्ष का अनुभव कर रहा हूँ।

इस ग्रंथ में लेखिका ने प्राण के स्वरूप और प्रकृति, सृष्टि, जगत्, देश-काल-निमित्त तथा अन्य अनेक शीर्षकों के अन्तर्गत प्राण का व्यापक विश्लेषण प्रस्तुत किया है। प्राण एवं चेतना का तात्विक विवेचन ही इस कृति का मूल आधार है।

मैं परिषद् के अपने सहयोगियों का आभारी हूँ जिनके परिश्रम से इस ग्रंथ के द्वितीय संस्करण का शीघ्र प्रकाशन संभव हो सका। मुझे पूरा विश्वास है कि यह संस्करण अधिक पाठकों तक पहुँचने में सक्षम होगा और प्राण के क्षेत्र में एक सन्दर्भ-ग्रंथ की मान्यता प्राप्त करेगा।

बी टी चिदानंद मूर्ति

नई दिल्ली

(डा० बी० टी० चिदानन्द मूर्ति)
निदेशक

शीर्षक-क्रम

आदि, एक आरंभ

सृष्टि से पूर्व न असत् था न सत् था, न जगत् था न अन्तरिक्ष, न उससे परे कुछ था।

ऋग्०[1]

'आदि' शायद एक जन्म-क्षण है, एक आविर्भाव, आगमन या प्राकट्य, एक आरंभ।

और 'अंत' शायद एक मृत्यु-क्षण है, विलय, विलोप या तिरोभाव।

पर 'आदि से पहले और 'अंत' के बाद ? क्या वहाँ कुछ नहीं है ? यदि यह 'कुछ नहीं' सत्य है तो इसका स्वरूप क्या है—शून्यता, खालीपन, नकार—कोई ऐसी रिक्तता, जहाँ किसी 'होने' को कल्पना में भी नहीं रखा जा सकता। क्या यही 'असद्' है—अनस्तित्व, 'नॉन बीइंग', 'आदि' से पहले की पूर्वता, जहाँ से 'सद्' अर्थात् अस्तित्व का जन्म होता है—

असद् वा इदमग्र आसीत्। ततौ वै सदजायत।[2]

पर 'असद्' या 'सद्' यहाँ परा सत्ता के वैशिष्ट्य नहीं हैं। ये 'इदम्' से जुड़े हैं, विश्व एवं वस्तुजगत् से। पहले यह जगत् असद् था—अस्तित्वरहित, अव्यक्त। इस 'असद्' से ही 'सद्' का जन्म हुआ, जगत् को अभिव्यक्ति मिली। पर

'असद्' से 'सद्' की उत्पत्ति संभव नहीं है :

न ह्यसतः सज्जन्मास्ति[3]

इसलिए हमें यह स्वीकार करना होगा कि असद् में 'सद्' का अभाव नहीं है, बल्कि अप्रत्यक्षता है। इसे इस प्रकार भी कह सकते हैं कि असद् में सत्ता की नाम-रूपात्मक विविधता साक्षात् या अवगम्य नहीं है और सद् में वह प्रकट एवं अनुगम्य है। पहली स्थिति में विभेदीकरण नहीं हुआ है, इसलिए वह अव्याकृत है

---

1 नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्।

ऋग्० 10.129.1

2 तैत्ति० उप०, ब्रह्मा०, 7

3 शंकरभाष्य, तैत्ति० उप०, ब्रह्मा०, 7

और दूसरी में नाम-रूपात्मकता की स्पष्टता है, इसलिए वह व्याकृत है।

वस्तुतः
'असद्' अन्य कुछ नहीं, प्राकट्य का तिरोभाव है और
'सद्' जो तिरोहित था, उसका अभिव्यक्तीकरण है।

यह स्वयं की स्वयं-रचना है :
तदात्मानं स्वयमकुरुत।[4]

प्राकट्य और तिरोभाव दोनों ही गति हैं।
जगत् स्वयं में एक गति है—एक प्रकम्पन।
प्रतिक्षण उद्भूत और लुप्त हो रही एक धड़कन।
सृष्टि का श्वास-प्रश्वास।
यदि यह क्रमिक भी है तब भी नित्य एवं निरन्तर है।

'आविर्भाव' गतिशीलता के साथ संयुक्त प्रतीत होता है और 'विलोप' एवं 'तिरोभाव' गति की न्यूनता का आभास देता है या विलीनता का बोध। पर ये दोनों ही गति-प्रकार हैं। एक में बहिर्गमनशीलता है, दूसरे में प्रत्यागमन। जाने और लौटने को गति से अलग नहीं किया जा सकता। पर जो घटित होता है—परिणाम, गति और विलय, वह गति के परिमाण में भेद उत्पन्न करता है। गति की बहिर्मुखता अनन्त और असंख्य गति-संचलनों का रूप लेती हुई सृष्टि की बहुविधता में परिवर्तित होती है और अन्तर्मुखता इस अनेकता से मुँह मोड़कर अपने 'एकत्व' की ओर लौटती है, अपने उद्‌गम-स्थान की ओर, 'गर्भ' की ओर, उस आदि देव की ओर जो 'एक' है और जिसमें से यह जगत् निकलता है और जिसमें लौटता है :

वि चैति चान्ते विश्वमादौ स देवः[5]

यहाँ गर्भ की शांति है, नीरव निश्चलता और अदृश्यता भी।
और यदि कोई स्पन्दन है तो वह आत्म-स्पन्दन है।

यह आदि देव है प्रजापति, जो अंदर अदृश्य रहकर बाहर अनन्त रूपों में उत्पन्न होता है :

---

4 तैत्ति० उप०, ब्रह्मा०, 7

5 श्वेता० उप०, 4.1

प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरदृश्यमानो बहुधा वि जायते।[6]

प्रत्यक्षता या प्राकट्य में गति की तीव्रता ही असंख्यक रूप धारण करती है और विलय में गति की मन्थरता किसी परोक्ष एकत्व में न्यून एवं लुप्त होती चली जाती है। यह गति की न्यूनता में विलीनता का बोध है।

गति-शून्यता कहीं नहीं है।
गति का संपूर्ण लोप पूर्ण विश्राम या मृत्यु की स्थिति में भी संभव नहीं है—
बस तब हम गति को दर्ज नहीं कर पाते
अभिलेखी यंत्र या तो बहुत नीचे छूट जाता है या बहुत पीछे।

यह योगी है जो तिरोभाव के भी सूक्ष्मतम स्पन्दन का अंकन प्रस्तुत करता है। उसकी अन्तर्दृष्टि प्राकट्य और तिरोभाव की प्रत्यक्षता एवं परोक्षता के अन्दर निहित सत्य में प्रवेश करती है और समय की उस शाश्वतता के पास आकर रुकती है जहाँ ये दोनों दो विशिष्ट गति-तरंगों में प्रकट प्रतीत हो रहे हैं और इन दोनों में कोई ऐसा अलगाव या समयान्तर नहीं है जो इन्हें शाश्वत प्रवाह से विच्छिन्न विश्लेषित कर सके। मानों उदय और लोप क्रमिक नहीं, युगपत् या समक्षणिक घटना हैं।

अन्तर्दृष्टि हर वस्तु के अन्तर्निहित वैशिष्ट्य तक पहुँचने में सक्षम है। यह वैशिष्ट्य साधारण से साधारण वस्तु का सत्य होता है, वस्तुओं का सत्य—'ट्रुथ ऑफ थिंग्स', उनकी अन्तर्निहित वास्तविकता।

जगत् और जीवन सामान्य तथ्य हैं—देश-काल-निमित्त एवं प्रकृति की त्रिरूपता में एक तरह से घटित होते हुए। पर यह सामान्यता इतनी वैशिष्ट्यरहित नहीं है। मानों हर कण और हर इकाई एक स्वतंत्र गति-संचलन हैं जो अपने लाक्षणिक वैशिष्ट्य की चरितार्थता की दिशा में अग्रसर हैं—हर यात्रा एक अलग यात्रा, समान-सी प्रतीत होने पर भी।

व्यक्ति हो या सार्विकता
खंड हो या अखंडित अनन्तता
सर्वत्र कोई क्रियाशील है . . .
'कौन' ?

---

6 अथर्व०, 10.8.13

चेतना के शिखरों पर प्रकाशमान, नीरव शांति में स्पन्दित

अवचेतना के अतल में आवृत, उतना ही अव्यक्त-सा, जितना वह 'असद्' के अन्दर था

वह कौन है ?

चेतना की ऊर्ध्वता में खुली उसकी सहस्रों आँखें अवचेतना की खाइयों में उतनी ही सहस्रता के साथ मुंद गयी हैं

पर यहाँ भी धड़कन है—एक अप्रकाशित स्पन्दन, जिसमें वह सरक रहा है—नींद के अन्दर।

चेतना के इन दोनों ध्रुवों पर और इनके बीच स्वयं गतिमय और गतिशील वह कौन-सा तत्त्व है जो हर स्तर पर अनेक या सर्व अभिव्यक्तियों में चमक रहा है—

यः सर्वभूतैर्विभाति।[7]

शास्त्र एवं उपनिषदों में यह 'प्राण' है :

प्राणो ह्येष . . .[8]

जो सर्व भूतों द्वारा अभिव्यक्त चमकता है—

चेतना की प्रकर्षमय गति—एक सर्वव्यापी संचलन।

वैज्ञानिक इस 'गति' को केवल भौतिक द्रव्य में ही आरेखित कर पाये, या गतिक ऊर्जा के अन्दर।

डॉ० नागेन्द्र का वक्तव्य है—"भारत के प्राचीन ऋषियों ने न केवल अन्तर्जगत् की संरचना का ज्ञान प्राप्त किया था बल्कि वे 'गति विज्ञान' की दिशा में भी आगे गये थे जो चेतना के अनेक भिन्न स्तरों को परिचालित करता है।"

उनका कहना है—"सारी विविधताओं के तल में प्राण एक ऐसा 'सत्य' है जो एकीकरण करता है और सारी सृष्टि के मनकों को एक सूत्र में पिरोता है। प्राण अन्तर्निहित जीवन-सत्ता है जो संपूर्ण सृष्टि का मूल संरचक तत्त्व है।"

---

7 मुंडक उप०, 3.1.4

8 वही

प्राण की अन्तर-विद्यमानता विश्वव्यापी है। प्राण विश्वरूप है :

स एष विश्वरूपः प्राणः . . .[9]

प्राण-गति को प्रकाश के साथ अधिक संयुक्त अनुभव किया जा सकता है। शायद इसलिए भी, क्योंकि वह स्वयं प्रकाश है—आदित्य, अग्नि . . .। रोशनी जैसे आविर्भाव है, उदय, जिसमें सब चलने लगता है। रोशनी का न होना जैसे एक अस्त है, जिसमें सब रुकता हुआ प्रतीत होता है—पर यह रुकना गतिविधि की वापसी ही अधिक है—प्रत्यावर्तन। घर लौटने जैसा कुछ।

प्रकाश गतिशील अधिक इसलिए है क्योंकि उसमें प्रसरण की विविधता है और अंधेरे में विश्राम की सघनता।

पर अंधेरे का अपना संचार है
सन्नाटे की अपनी सस्वरता
प्रकाशमय जगत् की भाँति ही, या
उससे कुछ अलग—
गति के दो पृथक् प्रकार—
प्रवृत्ति, निवृत्ति।

गति के साथ एक और चीज़ भी जुड़ी हुई है—ध्वनि।

गति कितनी भी शांत-मंथर क्यों न हो, नीरव नहीं होती, नीरवता के बोध से युक्त होकर भी।

शायद, गति में विद्यमान यह ध्वनि, यह 'शब्द' ही सृष्टि का प्रथम आविर्भाव हो या आविर्भावी तत्त्व, जो 'आकाश' की व्यापकता बनता है—प्रथम भूत तत्त्व आकाश का विस्तार। . . .

गति, प्रकाश और ध्वनि
भारतीय वाङ्मय में प्राप्त व्यापक विश्लेषण
और वैज्ञानिक उपगमन।

सम्पूर्ण भौतिक जगत् की विराटता में व्याप्त एक अभौतिक तत्त्व—प्राण।

---

9 प्रश्न उप०, 1.7

दिव्य अमर तत्त्व :

एष प्राण एव . . . अजरोऽमृतः[10]

अमृतमथेदम् . . .[11]

---

10 कौषी० ब्रा० उप०, 3.8

11 ईश उप०, 17

प्राण,
पारिभाषिक शब्दार्थ

अनुप्राणित करने के कारण यह प्राण है।

स्वच्छन्द०[1]

'प्राण' शब्द अपनी व्युत्पत्ति (प्र + अन् + अच्) में गति-संचलन या कम्पन का सूचक है। यह प्रगमन है और प्रकर्षता भी। यह शुद्ध चैतन्य का आविर्भूत स्पन्दन है, जो नित्य एवं निरन्तर सृजनशील है। गति एवं प्रकाश, सृष्टि अर्थात् प्राकट्य। प्राण में लयात्मकता है, सस्वरता भी। यह चैतन्य की नीरवता में से उठा एक अत्यन्त सूक्ष्म ध्वनि-कम्पन है। जो कुछ भी है—दृश्य या अदृश्य, चर या अचर, वह प्राण के अन्दर है, प्राण के द्वारा है।

वह प्राण ही है :

प्राणो वा इदं सर्वं भूतं यदिदं किञ्च।[2]

जब हम प्राण को परिभाषित करने का प्रयत्न करते हैं, तब वह एक ऐसी निकटता है, जो हमारे 'होने' के साथ जुड़ी हुई है, क्योंकि हर अर्थ में वह श्वास-प्रश्वास है। सृष्टि के हृदय की केन्द्रीय धड़कन, जीवन की ध्वनि। उसकी प्रकृति ही है नित्य, निरन्तर स्पन्दनशीलता और यह सृजनात्मक है।

जगत् का उन्मेष एवं निमेष प्राण के ही अंदर है।

प्राण ही विश्व का आधार एवं प्रतिष्ठा है :

प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम्।[3]

यही वह तत्त्व है जिसके होने पर सब होते हैं—स्थित, प्रतिष्ठित :

---

1 **प्राणनं कुरुते यस्मात्तस्मात्प्राणः प्रकीर्तितः।**

स्वच्छन्द०, 7.25-26

2 छान्दो० उप०, 3.15.4

3 प्रश्न उप०, 2.6

तस्मिंश्च प्रतिष्ठमाने सर्व एव प्रातिष्ठन्ते।[4]

नित्य अभिव्यक्तिशील प्राण नित्य पूर्ण है।
"यह परम चैतन्य सत्ता की क्रियाशील अनन्त शक्ति है।"[5]

शुद्ध चैतन्य की गत्यात्मकता उसकी शक्ति है और यह शक्ति, चित्शक्ति प्राण है। प्राण चैतन्य की गति-ऊर्जा है।

प्राण शब्द पर प्रकाश डालते हुए तंत्रशास्त्र में उल्लेख है कि प्राणियों के हृदय में अवस्थित प्राण 'प्राणन' क्रिया करने के कारण प्राण कहलाता है :

प्राणिनामुरसि स्थितः।
प्राणनं कुरुते यस्मात्तस्मात्प्राणः प्रकीर्तितः।[6]

प्राण स्वयं जीवन है, जीवन का प्रदाता भी।

श्रीअरविन्द के शब्दों में—"प्राण या प्राण-ऊर्जा अणुपर्यंत हर तत्त्व या रूप में विद्यमान है क्योंकि सर्वत्र सार रूप में और सर्वत्र क्रिया रूप में यह चित्शक्ति ही है जो अपने ही रूपों की भौतिक सत्ता को परिवर्तित कर रही है तथा संज्ञान के साथ गुप्त रूप से क्रियाशील है। ... यह सर्वव्यापी 'प्राणतत्त्व' है जिसने इस जगत् को अभिव्यक्त किया है और जो इसमें बसा हुआ है।"[7]

डॉ० नागेन्द्र के शब्दों में
"प्राण ऊर्जा का सूक्ष्मतम रूप है और
ऊर्जा प्राण का स्थूलतम रूप।"

उनका यह वक्तव्य न केवल शास्त्रीय विश्लेषण बल्कि प्रयोगात्मक प्रमाण की माँग करता है और ऊर्जा से सूक्ष्मतर, अधिक व्यापक, स्वतंत्र एवं शक्तिशाली किसी तत्त्व के अन्वेषण में लगे वैज्ञानिकों के अंदर आशा का संचार करता है।

ऊर्जा का सूक्ष्मतम रूप होकर भी प्राण भौतिक ऊर्जा नहीं है बल्कि यह हर ऊर्जा के परोक्ष में विद्यमान सर्वव्यापी दिव्य तत्त्व है—जगत् की समस्त गत्यात्मक

---

4 प्रश्न उप०, 2.4

5 श्रीअरविन्द, दि उपनिषद्स, वाल्यू० 12, पृ० 203-204

6 स्वच्छन्द०, 7.25-26

7 दि लाइफ डिवाइन, वाल्यू० 18, पृ० 187

ऊर्जाएँ इसी 'प्राण-तत्त्व', प्राण-ऊर्जा की प्रतिरूपताएँ हैं।

प्राण-ऊर्जा का वैज्ञानिक विश्लेषण करते हुए श्रीअरविन्द के शब्द हैं, "पश्चिमी विज्ञान जीवन-ऊर्जा अथवा प्राण-शक्ति की सत्ता पर संदेह करता रहा है, क्योंकि वह विज्ञान प्रकृति के केवल अत्यन्त बाह्य कार्यों के साथ स्वयं को संयुक्त करता है और उसके पास भौतिक या बाह्यता के अतिरिक्त अन्य कोई सच्चा ज्ञान नहीं है। प्राण-शक्ति स्वयं में भौतिक या भौतिक ऊर्जा नहीं है बल्कि यह भौतिक को आधार प्रदान करनेवाला और उसमें आवेष्टित एक अन्य तत्त्व है। यह सारे रूपों को अवलम्ब देता है एवं उन पर आधिपत्य रखता है। इसके बिना कोई भी रूप न तो अस्तित्व ले सकता है और न अस्तित्व में रह सकता है। यह विद्युत् आदि सभी भौतिक शक्तियों में कार्य करता है। भौतिक शक्तियाँ न तो इसके बिना सत्ता में रह सकती हैं न कार्य कर सकती हैं, क्योंकि वे इसी से अपनी ऊर्जा एवं गति ग्रहण करती हैं और वे इसकी माध्यम हैं। समस्त भौतिक रूप प्राण का ही रूप एवं क्षेत्र हैं, प्राण जो स्वयं में शुद्ध ऊर्जा है, उनका कारण है, उनका परिणाम नहीं। इसलिए किसी भी भौतिक विश्लेषण द्वारा इसकी खोज नहीं की जा सकती; भौतिक विश्लेषण केवल उन भौतिक घटनाओं के संयोजनों का निश्चय कर सकता है जो इसकी उपस्थिति एवं कार्य के बाह्य चिह्न और प्रतीक एवं इसके परिणाम हैं।"[8]

सब कुछ प्राण के वश में है :
प्राणस्येदं वशे सर्वम्[9]

वही इस क्रियाशील जगत् का ईश्वर है :
ईशो विश्वस्य चेष्टतः[10]

प्राण बीजात्मा है जो सर्व सत्ताओं को प्रतीयमान जन्म प्रदान करता है :
सर्वभावान् प्राणो बीजात्मा जनयति।[11]

प्राण गति है
प्राण चैतन्य की शक्ति है।
प्राण ऊर्जा है।

---

8 दि उपनिषद्स, वाल्यू० 12, पृ० 200-201

9 प्रश्न उप०, 2.13

10 अथर्व०, 11.4.23

11 शंकर भाष्य, गौडपाद०, 6

प्राण का प्रादुर्भाव

आरंभ में जब तम तम से आवृत था। जब सब कुछ अचेतन का एक समुद्र था। जब 'वह' खण्डमयता द्वारा अप्रकट एवं प्रच्छन्न था, तब 'तप' की महानता से उस 'एक' का जन्म हुआ।

ऋग्०[1]

शुद्ध चैतन्य प्राण का उद्गम अथवा उत्स है या
प्राण चैतन्य का 'आवि'र्भाव, प्रगमन अथवा प्रक्षेपण है,
इस विषय में शास्त्र प्रमाण प्रस्तुत करते हैं।

पिप्पलाद से कौसल्य का प्रश्न है:
"भगवन् कुत एष प्राणो जायते"[2]—प्राण का जन्म कहाँ से या किससे है?

पिप्पलाद का निश्चयात्मक उत्तर है:
"आत्मन एष प्राणो जायते"[3]—यह प्राण आत्मा से उत्पन्न होता है।

आत्मा क्या है—चैतन्य, चैतन्यस्वरूप।
या चैतन्य ही आत्मा है:
चैतन्यमात्मा।[4]

सभी शास्त्र चैतन्य को आत्मा का रूप स्वीकार करते हैं:
चैतन्यमात्मनो रूपम्...[5]

---

1 तम आसीत्तमसा गूळहमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्।
तुच्छयेनाभ्वपिहितं यदासीत्तपस्तन्महिनाजायतैकम्॥

ऋग्०, 10.129.3

2 प्रश्न उप०, 3.1

3 प्रश्न उप०, 3.3

4 शिव०, 1

5 नेत्रतंत्र, 8.28

इसी से प्राण की उत्पत्ति है।

शैवागम में प्राण को चैतन्य से भिन्न स्वीकार नहीं किया गया है बल्कि वह संवित् अर्थात् चैतन्य का प्रथम रूपान्तरण या आविर्भाव है :

प्राक् संवित्प्राणे परिणता।[6]

यह सृष्टि की प्रक्रिया है जिसमें संवित् सर्वप्रथम प्राण में परिणत होती है।

चैतन्य परमात्मस्वरूप है :

परमात्मस्वरूपम्।[7]

उससे प्राण जन्म लेता है :

एतस्माज्जायते प्राणः।[8]

प्रश्नोपनिषद् में इस सत्य की सुन्दर अभिव्यंजना है।

उस परमात्म सत्ता ने आत्म-चिंतन किया—"किसके उत्क्रान्त होने से मैं उत्क्रान्त हो सकता हूँ और किसके स्थित रहने से स्थित रह सकता हूँ?"[9]

और 'उसने' प्राण का सृजन किया :

स प्राणमसृजत।[10]

उसी से सप्त प्राणों (प्राण की विभिन्न गतियों) का जन्म हुआ :

सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मात्।[11]

और उन सात लोकों का भी, जिनमें ये सात प्राण संचरण करते हैं :

सप्त इमे लोका येषु चरन्ति प्राणाः . . .[12]

जिस प्रकार मकड़ी अपने धागे के साथ बाहर निकल आती है, जैसे छोटे-छोटे स्फुलिंग अग्नि से निकलते हैं, उसी प्रकार आत्मा से सर्व प्राणों का आविर्भाव

---

6 भट्ट कल्लट, तत्त्वार्थ चिन्तामणि

7 नेत्रतंत्र, 8.28

8 मुंडक उप०, 2.1.3

9 प्रश्न उप०, 6.3

10 प्रश्न उप०, 6.4

11 मुंडक उप० 2.1.4

12 मुंडक उप० 2.1.8

हुआ . . . ये प्राण सत्य हैं, आत्मा इनका सत्य है :

अस्मादात्मनः सर्वे प्राणाः व्युच्चरन्ति . . . प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्यम्।[13]

प्राण के प्रदुर्भाव से जुड़ा हर प्रश्न इसी उत्तर के पास ठहरता है कि परम चैतन्य आत्म-सत्ता ही प्राण का उद्गम-स्थान है।

यह परम सत्ता यदि 'नारायण' नाम से अभिहित है तो उसी से प्राण का जन्म हुआ है :

नारायणात्प्राणो जायते।[14]

उपनिषद् में 'प्रथम प्राण' के प्रेरक तत्त्व के विषय में प्रश्न है—किससे जोता जाकर प्रथम प्राण अपने मार्गों पर अग्रसर होता है :

केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः।[15]

यह वही चित् तत्त्व है, जिससे प्रेरित प्राण अपने पथों पर अग्रसर होता है :

येन प्राणः प्रणीयते।[16]

यही ब्रह्म है :

तदेव ब्रह्म।[17]

यही प्राण का प्राण है :

प्राणस्य प्राणः।[18]

यही परम प्राण है—दिव्य प्राण-तत्त्व, अपने मूल में आत्मा, चैतन्य ब्रह्म, जिससे प्रादुर्भूत या प्रेरित होकर प्राण अग्रगमन करता है।

प्राण को प्रथमजात स्वीकार किया गया है—सर्वप्रथम उत्पन्न

प्रथमो जातः . . .[19]

---

13 बृहद० उप० 2.1.20

14 नारायण उप०, 1

15 केन उप०, 1.1

16 केन उप०, 1.8

17 वही

18 केन उप०, 1.2

19 अथर्व, 10.8.28

प्राण आदि तत्त्व है—ज्येष्ठ एवं श्रेष्ठ :

प्राणो वै ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च[20]

प्राण के सृजन के पश्चात् ही अन्य तत्त्वों का आविर्भाव हुआ :

स प्राणमसृजत। प्राणाच्छ्रद्धां खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी . . .[21]

एतस्माज्जायते प्राणः . . .
खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्यधारिणी।[22]

'प्राक् संवित्प्राणे परिणता' का 'प्राक्' शब्द भी प्राण की प्रथमता प्रकट करता है।

उस 'परम तत्त्व' से प्राण का ऐक्य भी स्वीकार किया गया है :

तदेतदक्षरं ब्रह्म स प्राणः।[23]
स एव विष्णुः स प्राणः।[24]
एष प्राण . . . आत्मेति।[25]
प्राणो ब्रह्मेति।[26] आदि।

प्राण का प्रादुर्भाव उस एकमेव के 'बहु स्याम्'[27] होने की कामना से जुड़ा हुआ है—प्रजापति की प्रजाकामना से—

प्रजाकामो वै प्रजापतिः।[28]

इस 'जन्म' के पीछे एक सत्ता के दो एवं बहु होने का आग्रह है, आत्म-अभिव्यक्ति का आनन्दपूर्ण दबाव। यदि आनन्द का यह दबाव न होता, यदि हृदय

---

20 बृहद्० उप०, 6.1.1
21 प्रश्न उप०, 6.4
22 मुंडक उप०, 2.1.3
23 मुंडक उप०, 2.2.2
24 कैवल्य उप०, 8
25 कौषी० ब्रा० उप०, 3.9
26 कौषी० ब्रा० उप०, 2.1
27 तैत्ति० उप०, ब्रह्मा०, 6
28 प्रश्न उप०, 1.4

में आनन्द का यह आकाश न होता, तो कौन श्वास ले सकता था और कौन श्वास छोड़ सकता था :

को ह्येवान्यात् कः प्राण्यात्।
यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्।[29]

आनन्द का यह दबाव ही है, जो चेतना के शांत, अक्षुब्ध समुद्र में गति-तरंग के रूप में अनन्त आविर्भावी स्पन्दनों को रूप देता हुआ अग्रसर होता है।

प्राण ही चेतना की तरंग-चूड़ा है। यही वह तत्त्व है जिसमें व्यक्त होने एवं व्यक्त करने की शक्ति है। यही वह तत्त्व है जो अव्यक्त ब्रह्मन् में विद्यमान इस जगत् एवं इसकी सर्व सत्ताओं को प्रतीयमान रूप में प्रकट करता है। यही वह पुरुष है जो चेतना की किरणों को पृथक्ता देता हुआ उत्पन्न करता है :

प्रभवः सर्वभावानां सतामिति विनिश्चयः।
सर्वं जनयति प्राणश्चेतोंशून्पुरुषः पृथक्॥[30]

'बीजात्मा' अर्थात् कारणस्वरूप प्राण ही सर्व भावों को उत्पन्न करता है :
सर्वभावान् प्राणो बीजात्मा जनयति . . .[31]

वस्तुतः, प्रतीयमान सत्ता के रूप में आने से पहले भी सर्व सत्ताएं 'बीजात्मा प्राण' में स्थित थीं :

. . . प्राक्प्राणबीजात्मनैव सत्त्वमिति।[32]

यह प्राण-तत्त्व है जिसके कारण अव्यक्त सत्ता अपने व्यक्त रूप का साक्षात्कार करती है।

प्राण ही प्रजापति है जो अव्यक्तता के 'गर्भ' में संचरण करता है और फिर उत्पन्न होता है :

प्रजापतिश्चरसि गर्भे त्वमेव प्रतिजायसे।[33]

---

29 तैत्ति० उप०, ब्रह्मा०, 7

30 गौडपाद०, 6

31 शंकरभाष्य, गौडपाद, 6

32 वही

33 प्रश्न उप०, 2.6

. . . स उ गर्भे अन्तः।[34]

प्राण हिरण्यगर्भ है, ऋषि जिसे उत्पन्न होता हुआ देखते हैं :
हिरण्यगर्भं पश्यत जायमानं[35]

यह साधारण जन्म नहीं है। इसमें गुह्यता है और सृष्टि की पूर्वता है। हिरण्यगर्भ प्राण जन्म से ही प्रजाओं का पति है और लोकों का आधार है :

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे
भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमाम्[36]

यह वह देव है जो जीवन एवं बल का प्रदाता है। देवता भी जिसके आदेशों का पालन करते हैं और जिसकी छाया अमृत है तथा मृत्यु भी :

य आत्मदा बलदा यस्य विश्व
उपासते प्रशिषं यस्य देवाः
यस्य च्छायामृतं यस्य मृत्युः[37]

'बहुस्याम्' एवं 'प्रजाकाम' होने के परोक्ष में आनन्द है, तप है। इससे ही लोकों का एवं प्रजाओं का जन्म होता है। जिसमें संपूर्ण सृष्टि संचरण करती है और जिससे निःसृत होती है, वह चित्-तपस् प्राण अजर, अमर एवं 'आनन्द' है :
स एष प्राण एव . . . आनन्दोऽजरोऽमृतः[38]

•

प्राण सनातन अश्वत्थ वृक्ष है, जिसका मूल ऊपर है एवं शाखाएं नीचे हैं। यह तेजोमय है, ब्रह्म है, अमृत है। इसी में समस्त लोक आश्रित हैं, इसका अतिक्रमण कोई नहीं करता है :
ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः।
तदेवं शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते।

---

34 अथर्व०, 10.8.28

35 श्वेता० उप०, 4.12

36 ऋग्०, 10.121.1

37 ऋग्०, 10.121.2.

38 कौषी० ब्रा० उप०, 3.8

तस्मिंल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन।[39]

प्राण प्रथम जन्म है। यह 'उत्पन्न' से उत्पन्न नहीं हुआ है। शुद्ध एवं प्रकाशमय चैतन्य ही इसका उद्गम है।

प्राण के प्रादुर्भाव के विषय में प्राणविद्या के मनीषी योगेश्वरानन्द ने अपनी पुस्तक 'प्राण विज्ञान' में कुछ प्रकारान्तर से अपने अनुभवजन्य निष्कर्ष प्रस्तुत किये हैं।

उनकी मान्यताएँ इस प्रकार हैं :

- प्राण कारणरूपा प्रकृति का प्रथम प्रादुर्भाव है।
- जड़प्रकृति एवं सर्वव्यापी चेतन के संयोग से सूक्ष्म प्रकृति में जो स्पन्दन अथवा कम्पन उत्पन्न होता है, वह प्राण है :
  कम्पनात्।[40]
- चेतन पुरुष के सम्बन्ध से प्रकृति में उत्पन्न हुई सर्वप्रथम गति प्राण है।
- प्राण प्रकृति का प्रथम परिणाम है। यह प्रकृति की प्रथम शक्ति है। प्रकृति अपनी इसी शक्ति के द्वारा सृष्टि का कार्य करती है।
- प्रकृति ही प्राण का उद्भव-स्थान है, ब्रह्म अथवा चैतन्य नहीं। ब्रह्म परिणामी नहीं है, अतएव परिणामरूप प्राण ब्रह्म या परमात्मा की सृष्टि नहीं है, परिणमनशील प्रकृति की सृष्टि है।
- वैश्विक स्तर पर जब सृष्टि प्रभिन्न या सुव्यक्त न होकर साम्यावस्था में रहती है, तब प्राण की गति भी भिन्न या सुस्पष्ट नहीं होती, यह समष्टिगत एकीकरण में संचलित रहती है। व्यष्टि स्तर पर ही प्राण की गति में पार्थक्य और स्पष्टता आती है।"

योगेश्वरानन्द का निष्कर्ष है :

- आदि समष्टि प्राण की उत्पत्ति पुरुष एवं प्रकृति के संयोग से होती है।
- व्यष्टि प्राण की उत्पत्ति आत्मा और चित्त के संयोग से होती है।

वैदिक वाङ्मय एवं उपनिषद् विश्व को परिणाम नहीं, बल्कि उस एक परम

---

39 कठ उप०, 2.3.1

40 शंकरभाष्य, ब्रह्मसूत्र, 1.3.39

सत्ता का बहुविध अभिव्यक्तीकरण स्वीकार करते हैं, जो हर रूप में प्रतिरूप हो जाता है :

रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।[41]

यह अव्यक्त का व्यक्तीकरण है। 'अस्ति' का आविर्भाव।

प्राण महाभूत तत्त्व 'प्रकृति' (मैटर) में स्वयं को विस्तृत एवं व्यापक करता है। यह चैतन्य से उद्भूत उसी की सृजनात्मक शक्ति एवं गति है।

श्रीअरविन्द के शब्दों में—"ऊर्जा और क्रियाशीलता के रूप में प्राण चैतन्य-सत्ता की आत्म-शक्ति है'[42]—**देवात्मशक्ति।**[43]

यह शक्ति अपने ही गुणों से आवृत एवं प्रच्छन्न है—**स्वगुणैर्निगूढाम्।**[44]

सारे रूप इसी एक शक्ति की क्रियाएँ हैं, इसके अपने संचलन का प्रत्यक्ष निरूपण। प्रकाश, ध्वनि, रस एवं गन्धमय सृष्टि सब इसी देवशक्ति का कार्य हैं, इसकी अपनी गतिशीलता का प्रस्तुतीकरण।

"प्राण सबका धारक है और हर रूप-विधान को व्याप्त करता है। इसके बिना कोई भी रूप अस्तित्व ग्रहण नहीं कर सकता और न अस्तित्व में रह सकता है। भौतिकता के समस्त रूप-पक्ष प्राण का ही क्षेत्र एवं प्रकार हैं। प्राण, जो स्वयं में शुद्ध ऊर्जा है, उनका कारण है, उनका परिणाम नहीं।'[45]

प्राण के प्रादुर्भाव के विषय में उपनिषद् में आदित्य एवं अग्नि (द्यावा-पृथिवी) के संयोग से प्राण की उत्पत्ति का उल्लेख है। यह प्राण इन्द्र है और कोई प्रतिस्पर्धी न होने के कारण अ-द्वितीय है :

ततः प्राणोऽजायत स इन्द्रः स एषोऽसपत्नः[46]

द्यावा-पृथिवी का संयोग अथवा सन्धि अन्तरिक्ष है, '**आकाशः सन्धिः**'[47], एवं

---

41 कठ उप०, 2.2.9-10

42 दि उपनिषद्स, वाल्यू० 12, पृ० 195

43 श्वेताश्वतर उप०, 1.3

44 वही

45 श्रीअरविन्द, दि उपनिषद्स, वाल्यू० 12, पृ० 200-201

46 बृहद० उप०, 1.5.12

47 तैत्ति० उप०, शिक्षा०, 3

प्राण उसमें संचरण करता है और वायु रूप में इनका संयोजक तत्त्व है—**'वायुः सन्धानम्'**।[48]

व्यक्ति-स्तर पर भी प्राण को मन एवं शरीर के बीच की संयोजक कड़ी स्वीकार किया गया है।

"प्राण मन एवं शरीर का गत्यात्मक जोड़ है।"[49]

अन्तरिक्ष में संचरणशील वायु को प्राणवायु की ही संज्ञा दी गयी है। चारित्रिक संलक्षण की एकरूपता के कारण। वायु प्राण का ही एक आविर्भाव है :

प्राणाद्वायुरजायत।[50]

श्रीअरविन्द[51] ने प्राण को शुद्धतम अर्थ में 'चित्-तपस्' की संज्ञा दी है। चैतन्य की यह पवित्र ऊर्जा अपनी विश्रान्ति एवं क्रियाशीलता में स्वतंत्र एवं अपनी इच्छा में प्रभुत्व-संपन्न है तथा भौतिक ऊर्जा का दिव्य प्रतिरूप है।

"इस भौतिक जगत् में चैतन्य शक्ति का प्रथम रूप प्राण है।"[52]

"अवचेतन ऊर्जा में या उसके परोक्ष में भी यही गुह्य चेतना विद्यमान है।"[53]

प्राण जैसे व्यापक तत्त्व पर विज्ञान-जगत् की अपनी सीमित मान्यताएँ हैं। कश्मीर शैव-दर्शन के विद्वान् श्री पंडित उन पर टिप्पणी करते हुए कहते हैं :

"वैज्ञानिकों का मानना है कि जीवन (प्राण) कुछ भौतिक द्रव्यों का विशिष्ट गुण और कार्य है और यह उन द्रव्यों की भौतिक स्थितियां एवं अवस्थाओं में विशिष्ट परिवर्तनों द्वारा प्रादुर्भूत होता है। आज तक भी वैज्ञानिक पूरे तौर पर इन अवस्थाओं की व्याख्या नहीं कर सके हैं और न तो ऐसा कुछ निश्चित बता सके हैं कि इन भौतिक द्रव्यों में जीवन कैसे प्रकट होता है। भौतिक द्रव्य से चेतना कैसे उत्सर्जित हुई है ? . . . सत्य ठीक इसके विपरीत है। यह चैतन्य है, भौतिक तत्त्व जिससे बाहर आता है।"[54]

---

48 वही

49 श्रीअरविन्द, सप्लिमेंट, वाल्यू० २७, पृ० 383

50 ऋग्०, 10.90.13; अथर्व०, 19.6.7

51 दि उपनिषद्स्, वाल्यू० 12, पृ० 85

52 श्रीअरविन्द, दि लाइफ़ डिवाइन, वाल्यू० 19, पृ० 824

53 श्रीअरविन्द, दि लाइफ़ डिवाइन, वाल्यू० 19, पृ० 834

54 बी० एन० पंडित, स्पेसिफ़िक प्रिंसिपल्स ऑफ कश्मीर शैविज़्म, पृ० 44

जीवन की हर गति-ऊर्जा प्राण की अवर प्रतिरूपता है।

श्रीअरविन्द ने अविभक्त सत्ता 'चैतन्य' एवं अनेकधा 'प्राण-शक्ति' के विषय में व्यापक अध्ययन प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार "यह चैतन्य ही है जो प्राण के प्राकट्य में एक संश्लिष्ट आवर्तन, समन्वयों की श्रेणी, गतियों की तारतम्यता बनता है—चैतन्य की अविभक्त सत्ता ही प्राण की विश्वव्यापी गति को स्थिर एवं नियंत्रित रखती है। . . . समस्त अनुक्रम, आवर्तन या तारतम्य प्राण की अवरोहण-शील एवं आरोहणशील गति द्वारा ही निर्मित होते हैं। यह गति अवरोहण में अन्तर्वलयित रहती है एवं आरोहण में विकासीय। . . . इस गति का ऊर्ध्वतम स्तर शुद्ध 'चैतन्य' है एवं इसका निम्नतम तल 'भौतिक' है।"[55]

इस प्रकार 'प्राण' दो ध्रुवों के बीच क्रियाशील है। पर इस क्रिया का आधार 'शाश्वत' के अंदर है :

" 'शाश्वत' की नीरवता ब्रह्मांडीय क्रिया की धारक है"[56]

उपनिषदों में प्राण एवं उसके आविर्भाव, उसके हर रूप एवं प्रकार पर व्यापक एवं सूक्ष्म संकेत प्राप्त होते हैं। वे गुत्थी नहीं हैं, गुह्यता हैं, आध्यात्मिक एवं भौतिक सत्यों की अन्तर्निहित सूक्ष्म सूत्रता। उन्हें उतनी ही सूक्ष्म मर्मज्ञता से उद्घाटित एवं विश्लेषित किया जा सकता है। . . .

सत्यों का अन्तःसाक्षात्कार जरूरी है, यही वह केन्द्रिकता है जो मस्तिष्कीय विश्लेषण को प्रकाशित कर सकती है और वैज्ञानिक उपगमनों को नयी दिशा दे सकती है।

---

55 दि उपनिषद्स, वाल्यू० 12, पृ० 121

56 श्रीअरविन्द, सावित्री, वाल्यू० 28, पृ० 120

प्राण का स्वरूप

आनेवाले प्राण के लिए नमस्कार है, गमन करनेवाले प्राण के लिए नमस्कार है, स्थिर रहनेवाले और बैठनेवाले प्राण के लिए नमस्कार है।
प्राण एवं अपान क्रिया करनेवाले प्राण के लिए नमस्कार है। आगे बढ़नेवाले और पीछे हटनेवाले प्राण के लिए नमस्कार है। सर्व कार्य करने के लिए प्राण को नमस्कार है।

अथर्व०[1]

प्राण के अनेक एवं पृथक् पथ हैं।

छान्दो०[2]

गति एवं क्रिया का प्रकाशक हर 'प्रकार' पूरी तरह प्राण के साथ संयुक्त है क्योंकि प्राण स्वयं गति एवं क्रिया है।

'प्राण' का अर्थ है अग्र अथवा उत्कृष्ट गति, एक प्रकर्षमय संचलन। यह इस तत्त्व का सर्वोपरि संलक्षण है जो संचरणशील जगत् की हर गति का नियंत्रक है। शुद्ध चैतन्य से अवरोहणशील प्राण की यह गति बहुसंख्यक एवं अनन्त होती हुई जगत् के अनेक रूप-आकारों को पृथक्-पृथक् प्रकाशित करती है।

प्राण पर किया जानेवाला हर अध्ययन उसके स्वरूप को स्पष्ट करता है। प्राण अमर है—**'प्राणो वा अमृतम्'**[3], प्राण सत्य है—**'प्राणो वै सत्यम्'**[4], प्राण बल है—

---

1 नमस्ते अस्त्वायते नमो अस्तु परायते।
नमस्ते प्राण तिष्ठत आसीनायोत ते नमः॥
नमस्ते प्राण प्राणते नमो अस्त्वपानते।
पराचीनाय ते नमः प्रतीचीनाय ते नमः सर्वस्मै त इदं नमः॥

अथर्व, 11.4.7, 8

2 प्राणः पृथग्वर्त्मात्मा।

छान्दो० उप०, 5.18.2

3 बृहद० उप०, 1.6.3

4 बृहद० उप०, 2.1.20

'**प्राणो वै बलम्**'[5], प्राण प्रज्ञात्मा, तेजोमय, अमृतमय है। प्राण शक्ति है, प्राण आत्मा है, प्राण ब्रह्म है—ये सभी उल्लेख शास्त्रों में वर्णित प्राण के स्वरूप का निश्चय प्रस्तुत करते हैं।

इन पर अलग शीर्षकों में विचार किया गया है।

प्रस्तुत शीर्षक के अन्तर्गत प्राण के न केवल शब्दगत, बल्कि स्वरूपगत संलक्षण 'गति' पर प्रकाश डालना उचित होगा।

प्राण ही वह तत्त्व है, जिसमें हर गति, हर गति-नियम एवं गति-विज्ञान का रहस्य सन्निहित है। प्राण का ज्ञान विश्व-रचना से जुड़े हर प्रश्न को उद्घाटित-प्रकाशित कर सकता है।

प्राण अपने प्राकट्य में वैश्विक है, एक अनन्त क्रियाशीलता तथा अविराम कम्पन है। एक शाश्वत स्पन्दन :

एकं प्राण परिस्पन्दनः।[6]

तन्त्रशास्त्र में इसे 'विसर्गात्मा' का अविरत स्पन्दन कहा गया है, जो ऊर्ध्वगति एवं अधःगति है :

ऊर्ध्वे प्राणो ह्यधो जीवो विसर्गात्मा परोच्चरेत्।[7]

'विसर्गात्मा' सृजनस्वरूपा पराशक्ति है।

प्राण की यह गति स्वतंत्र और स्वयंप्रवृत्त है :

प्राणः स्वप्रवृत्तः।[8]

प्राण सर्वत्र स्वयं स्फुरणशील रहता है।

परम स्वतंत्र चैतन्य (चितिः **स्वतंत्रा**[9]) की स्वतंत्र क्रियाशक्ति होने के कारण प्राण स्वयं प्रवृत्त है।

---

5 बृहद० उप०, 5.14.4

6 मुक्तिकोपनिषद्, 2.48

7 विज्ञानभैरव, 24

8 स्वच्छन्द०, 4.257

9 प्रत्यभिज्ञा०, 1

भौतिक ऊर्जा में स्वातंत्र्य एवं स्वप्रवृत्त होने की यह शक्ति विद्यमान नहीं है।

डॉ० नागेन्द्र के शब्दों में, "ऊर्जा प्राण का स्थूलतम प्राकट्य है और सृष्टि-स्पेक्ट्रम के एक सिरे पर है। स्थूलतम यह इसलिए है, क्योंकि इसके पास न्यूनतम स्वतंत्रता है। अपनी गति बदलने के लिए या अन्य किसी वांछित दिशा में प्रवहमान होने के लिए इसे एक बाह्य कर्ता या कारण की ज़रूरत है। प्राण अपने अभिव्यक्ति-स्तरों पर अपनी स्वातंत्र्य-क्षमता का उपयोग कर सकता है। मन के अभिव्यक्ति-स्तर पर वह इच्छा कर सकता है, संकल्प एवं विकल्प कर सकता है एवं स्वयं परिवर्तित हो सकता है।"

शास्त्र से उद्धरण प्रस्तुत करते हुए डॉ० नागेन्द्र प्राण की इस स्वतंत्रता को और अधिक स्पष्ट करते हैं—प्राण अपनी मनस् अभिव्यक्ति में स्वयं ही स्थूल हो जाता है और स्वयं ही सूक्ष्म हो जाता है। यह स्वयं ही संकोच एवं स्वयं ही विस्तार को प्राप्त करता है :

स्वयमेव पीनतां याति स्वयमेव तानवं याति।

तथा

स्वयमेव प्रसरति स्वयं संकोचमेति च।[10]

प्राण स्वयं वेग-आवेगयुक्त और स्वयं मंद-शांत स्पन्दन को प्राप्त करता है।"

भौतिक जगत् में यह प्राण की सूक्ष्मतर अभिव्यक्ति है, जिसमें नमनीयता और लचीलापन अधिक है। करने, न करने, अन्य प्रकार से करने की क्षमता है :

कर्तुमकर्तुमन्यथा वा कर्तुं शक्यम्।[11]

प्राण की ऊर्ध्वगति में, अभिव्यक्ति के उच्च स्तरों पर चेतना के स्वातंत्र्य को अधिक पूर्णता से, प्रकाश एवं विस्तार में अनुभव किया जा सकता है। प्राण की अधःगति में, अभिव्यक्ति के निम्न भौतिक स्तरों पर, यह स्वातंत्र्य बद्ध एवं संकीर्ण रूप ग्रहण करता है।

शुद्ध प्राण-तत्त्व दोनों स्तरों पर समान रहता है—स्वप्रवृत्त, स्वतंत्र।

प्राण की स्वतंत्र शक्ति के आधार से विकास के उन्नत शिखरों एवं प्रकाश

---

10 योगवासिष्ठ, 6.19.9

11 शंकरभाष्य, ब्रह्मसूत्र, 1.1.2.2

के बृहत् विस्तारों को प्राप्त किया जा सकता है।

डॉ० नागेन्द्र के शब्द हैं, "स्वतंत्रता की इस वृद्धि के साथ संयुक्त हैं उच्चतर क्षमताएँ, शक्ति और आनन्द। सूक्ष्मतम रूप में प्राण पूर्ण आनन्द की एक ऐसी अवस्था है जिसमें प्रायः कोई प्रत्यक्ष या सुनिश्चित क्रियाशीलता नहीं है। इस आनन्द के मूल में नीरवता की स्थिति है। प्राण की यह नीरवता ही शुद्ध चैतन्य है जिसमें न्यूनतम अंश में भी जड़ता या तमस नहीं है। यह प्राण की कारण अवस्था है—प्राणिक स्पेक्ट्रम का मूल सूक्ष्मतम छोर। इस स्पेक्ट्रम का स्थूलतम छोर भौतिक तत्त्व है, जिसमें न्यूनतम चैतन्य है।

"संपूर्ण सृष्टि में एक समग्र निरंतरता है, जब कि चेतना के एक स्तर से दूसरे स्तर पर स्वतंत्रता का परिमाण बहुत बड़े अंतर या परिवर्तन के रूप में प्रतीत होता है। सृष्टि में यह स्वतंत्रता बड़े सुनियोजित ढंग से और क्रमिक रूप से निर्मित होती है, जैसा कि प्राण की संक्रमणशील अभिव्यक्तियों—रेडियोधर्मी अणुओं, ड्रोसरा पौधों, बन्दरों, मानवों या रहस्यविद् मनीषी महामानवों—के उदाहरणों द्वारा देखा जा सकता है।

"इस संक्रमणशील अभिव्यक्ति के अध्ययन-परिशीलन से, हम विभिन्न स्तरों पर प्राण के नियमों के रहस्यों का उद्‌घाटन कर सकते हैं। इस प्रकार ये संक्रमणशील अभिव्यक्तियाँ प्राण की अभिव्यक्ति के एक स्तर और दूसरे स्तर के बीच सेतु का कार्य करती हैं जो प्रत्यक्ष ही स्वतंत्रता के नये पक्षों को प्रकट करते हैं। पशुओं का चलना-दौड़ना तथा उनकी दूसरी वृत्तियाँ एवं कार्य उन्हें पृथ्वी के साथ मूलबद्ध अचल पेड़-पौधों-वनस्पतियों से अलग करते हैं। और आगे जाने पर हम देखते हैं कि मनुष्य की बुद्धि की सामर्थ्य से होनेवाले कार्य पशुओं की स्वाभाविक कार्य-वृत्तियों से अत्यन्त भिन्न हैं।

"मानव-जीवन का उद्देश्य दिव्यता का प्रकाशन है। प्राण में स्वतंत्रता का यह तत्त्व दिव्यता है। इस स्वतंत्रता का प्रकाशन जितना महान् होगा, उतना ही बड़ा विकास होगा। और प्राण के या विश्व के उच्चतर नियमों को उतने ही बड़े स्तर पर समझा या सुलझाया जा सकेगा, उतनी ही बड़ी एवं महान् शक्ति को अधिगत किया जा सकेगा।"

प्राण शुद्ध चैतन्य का ही गतिमूलक प्रसरण है। इस गति के निवर्तन का अर्थ है लय या विलोप, प्रकट वस्तु-जगत् का तिरोभाव।

शास्त्रों में प्राण की दो प्रमुख गतियों का उल्लेख है। एक आरोहणशील ऊर्ध्व

गति है, दूसरी अवरोहणशील अधः गति। यह गति आरोहण में विकासशील एवं अवरोहण में आवेष्टित है। सृजन-शक्ति इन दोनों गति-संचलनों में स्वयं को नित्य अभिव्यक्त करती है और इनकी लय के द्वारा ही विराट ब्रह्मांड में एवं लघु पिंड में जीवन की क्रिया को बनाये रखती है।

तंत्रशास्त्र इस गति को पराशक्ति का अविराम स्पन्दन, कम्पन अर्थात् 'उच्चार' कहते हैं।[12]

यह सार्वभौमिक जीवन-ऊर्जा या प्राणशक्ति है जो व्यक्ति में पांच गति-प्रकारों में कार्य करती है :

- प्राण गति
- अपान गति
- समान गति
- उदान गति एवं
- व्यान गति

श्री पंडित के शब्दों में, "ये पाँच प्राण चैतन्य की चार भिन्न अवस्थाओं में प्रकट होते हैं। ये अवस्थाएँ हैं :

- जाग्रत
- स्वप्न
- सुषुप्ति एवं
- तुर्या

इनमें सुषुप्ति, स्वप्नरहित गहरी निद्रा की अवस्था है एवं तुर्या आत्म-प्रकाशन की।

प्राण की इन चारों अवस्थाओं का प्राकट्य उदय एवं लय के रूप में अनन्त चैतन्य के भीतर होता है, जो प्राण की समस्त क्रियाओं का उद्‌गम है।"[13]

प्राण एवं अपान गतियाँ बहिष्करण एवं स्वांगीकरण की क्रियाओं से जुड़ी हुई हैं। प्राण के ये दोनों गति-प्रकार प्रश्वसन (प्राण) एवं श्वसन (अपान) का कार्य करते हैं।

"कश्मीर शैव-दर्शन में विलोपन एवं स्वांगीकरण केवल प्रश्वसन और श्वसन को

---

12 विज्ञानभैरव, 24

13 बी० एन० पंडित, स्पेसिफ़िक प्रिंसिपल्स ऑफ कश्मीर शैविज़्म, पृ० 30

ही प्रकट नहीं करते बल्कि ये अनेक अवधारणाओं का चित्रण करते हैं। समस्त आन्तर एवं बाह्य वस्तुओं का निष्क्रमण एवं विलोपन प्राण है और संपूर्ण स्वांगी या आत्मसात्करण अपान है। विचारों को एकत्रित या आत्मसात् कर लेना अपान है, जब कि बोलने की प्रक्रिया निष्क्रमणशील होने के कारण प्राण है।"[14]

"'प्राण' शब्द दो प्रकार के अर्थ का अभिव्यंजक है। यह सूक्ष्म जीवन-शक्ति को प्रकट करता है—उस सार-तत्त्व को, जो हमारे शरीर को जीवित रखता है। दूसरे, यह प्रश्वसन का परिचायक है जो मन, शरीर एवं इन्द्रियों का बहिर्गमनशील रूप है।"[15]

"सृष्टि एवं संहार को प्राण के कार्य के रूप में वर्णन किया गया है। प्रथमतः, क्योंकि यह परमोच्च परम स्वतंत्र सत्ता है तथा यह बहिष्करण एवं स्वांगीकरण के कार्य को करता है। ... सार्वभौमिक जीवन-शक्ति के रूप में यह चेतना एवं मनुष्य के स्थूल, सूक्ष्म आदि अनेक स्तरों की कड़ी है।[16]

प्राकट्य में गति-संचलनों की तारतम्यता अथवा संश्लिष्टता ही अनन्त परिवर्तनशीलता है और यह अनन्त परिवर्तनशीलता अनन्त विविधता है। इस तरह यह परिवर्तनशील, विविध जगत् प्राण-शक्ति की गति के अंदर ही संचरण करता है।

"यह आद्य प्राण-शक्ति चैतन्य के कम्पन के रूप में नाम-रूपात्मक इस प्रतिभासिक जगत् को व्यक्त या उत्पन्न करती है।"[17]

प्राण के इस अविराम कम्पन में यदि कहीं कोई विराम दृष्टिगत होता है, किसी ऐसी निश्चल स्थिति का बोध, जो गति की तरह नहीं जान पड़ता, तो वह भी गति की संश्लिष्टता का संयोजन है—गति के संहत रूप का संघटन।

"जो कुछ भी स्थावर प्रतीत हो रहा है, वह केवल गति का पिण्डक है, क्रियाशील गति का ही सूत्रीकरण, प्रतिपादन, जो हमारी चेतना में उसके निश्चल होने की प्रतीति देता है। यह वैसा ही है, जैसे धरती हमें निश्चल प्रतीत होती है।"[18]

---

14 बी० एन० पंडित, स्पेसिफ़िक प्रिंसिपल्स ऑफ कश्मीर शैविज़्म, पृ० 30-31

15 वही

16 जयदेवसिंह, टिप्पणी, शिव०, 3.43

17 जॉन वुडरॉफ, शक्ति एंड शाक्त, पृ० 174-175

18 श्रीअरविन्द, दि लाइफ़ डिवाइन, वाल्यू० 18, पृ० 73

अवचेतन की निश्चलता भी इसी गति का घनत्व ही है, संहत संचलन, विस्तार के नकार से जुड़ा, खुलने और फैलने के लिए अप्रस्तुत, गति की जटिलता का बद्ध रूप। वहाँ संचलन शांति की स्थिरता में नहीं है, बल्कि अनेक गतियों की उलझी हुई गुत्थी के अंदर है . . .

यह गति का अन्तर्वलयित रूप है, विकास के लिए अनिच्छुक, पर क्रिया एवं परिणामरहित नहीं। प्राण की ऊर्ध्व-निम्न हर गति में विद्यमान परिवर्तन एवं विकास का नियम यहाँ भी कार्यशील है।

जिस प्रकार प्राण की गति में नाम-रूपात्मक जगत् की रचना है, उसी प्रकार प्राण-गति में ही कार्य-कारण का अनुक्रम सर्वत्र विद्यमान है।

चिन्मय हो या चट्टान, अनन्त नाम-रूपों में अभिव्यक्त संपूर्ण चराचर जगत् प्राण-गति द्वारा प्रतीयमान है।

गति प्राण की स्वरूपता या उसका स्वरूपगत संलक्षण है।

गति के साथ उसकी अभिन्न तद्रूपता का आरेखण इस प्रकार है :

- चैतन्य की क्रियाशील गति प्राण का स्वरूपगत वैशिष्ट्य है।
- प्राण एक आत्मअभिव्यक्तिशील जीवन-शक्ति है और संपूर्ण सृष्टि का मूल संरचक तत्त्व है।
- प्राण हर आविर्भूत वस्तु की प्रकृति, गति, शक्ति एवं क्रियाओं का निर्धारण करता है।
- चराचर सत्ता का जीवन प्राण की क्रिया पर निर्भर करता है। प्राणिक अभिव्यक्ति के सभी स्तरों के बीच निरन्तरता एवं अविच्छिन्नता है।
- प्राण गति के एवं अन्तरान्तरण के हर कम्पन में क्रियाशील है तथा हर अणु एवं कण में विद्यमान है।
- प्राण अपनी गतिशीलता के कारण विकास, परिवर्तन एवं रूपान्तरण की केन्द्रीय शक्ति है।
- प्राण की एकसूत्रता पर भौतिक जीवनों की क्रमिकता को सुव्यवस्थित किया गया है, क्योंकि, सारतः, यह अमर तत्त्व है।

प्राण एवं प्रकृति

> कल्प के अंत में सब प्राणी मेरी प्रकृति में चले जाते हैं। मैं उन्हें कल्प के आरंभ में पुनः उत्सर्जित करता हूं।
> मैं अपनी प्रकृति को अनुप्राणित कर इस विवश, संपूर्ण भूत-समुदाय को प्रकृति की शक्ति से बारम्बार उत्सर्जित करता हूं।
> मेरी अध्यक्षता में यह प्रकृति चर-अचर विश्व को उत्पन्न करती है; इसके कारण यह जगत् परिक्रमणशील रहता है।
>
> गीता[1]

"प्रकृति चैतन्य शक्ति का ही बाह्य अथवा कार्यकारी रूप है, जो जगत् का निर्माण एवं संचालन करता है। यह बाह्य रूप शक्तियों, गुणों का खेल, यांत्रिक-सा प्रतीत होता है, जब कि इसके परोक्ष में ईश्वरीय चैतन्य शक्ति है, दिव्य शक्ति है। स्वयं प्रकृति निम्नतर एवं उच्चतर दो रूपों में विभक्त है, निम्न प्रकृति अज्ञानमय है और अपनी चेतना में ईश्वर से पृथक् है, उच्चतर प्रकृति सच्चिदानन्द की दिव्य प्रकृति है और अज्ञान एवं इसके परिणामों से मुक्त है।"[2]

निम्न प्रकृति अपरा प्रकृति है।
उच्च प्रकृति परा प्रकृति है।

"अपरा वह प्रकृति है जो मन, प्राण, शरीरों को अभिव्यक्ति देती है। परा प्रकृति दिव्य सत्ता की अपनी प्रकृति है, परम चैतन्य शक्ति, जो बहुलित दिव्य

---

1 सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम्॥
प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात्॥
मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते॥

भगवद्गीता, 9.7, 8, 10

2 श्रीअरविन्द, दि लैटर्स ऑन योग, वाल्यू० 22, पृ० 287

सत्ता को 'अनेक' रूपों में प्रकट करती है।"[3]

सांख्य-दर्शन 'प्रकृति' को एक स्वतंत्र तत्त्व स्वीकार करता है, 'पुरुष' से भिन्न, जब कि 'माया' एवं 'शक्ति' ईश्वर एवं चैतन्य सत्ता की आत्मशक्तियाँ हैं। यह कोई अन्य नहीं, देवात्मशक्ति है जो अपने ही गुणों से आवृत है :

देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्।[4]

सत्त्व, रज, तम—ये गुण प्रकृति से ही उत्पन्न हैं :
सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः।[5]

'प्रकृति' हो, 'माया' अथवा 'शक्ति'—ये तीनों ही चैतन्य की आत्मशक्तियाँ हैं। स्वरूप-आवरण तीनों की लाक्षणिकता है, भिन्न प्रकार से विश्लेषित होने पर भी। तीनों का कार्य एक है—अरूप में रूप-विधान।

शक्ति में ज्ञान-बल-क्रिया स्वाभाविक हैं और यह शक्ति विविध है :
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते।
स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च॥[6]

योगेश्वरानन्द[7] ने प्राण एवं प्रकृति का अनुभवगम्य शास्त्रीय विश्लेषण एवं गहन अध्ययन प्रस्तुत किया है।

उनके मत में प्राणशक्ति प्रकृति का प्रथम परिणाम है। यह प्राणशक्ति प्रकृति को साम्यावस्था अथवा प्रलयकाल में भी क्रियाशील बनाये रखती है।

सांख्य दर्शन सत्त्व, रज एवं तम इन त्रिगुणों को प्रकृति का प्रथम परिणाम मानता है तथा प्रकृति की साम्यावस्था में किसी भी कर्म या गति को स्वीकार नहीं करता।

योगेश्वरानन्द की मान्यता है कि प्रकृति में कर्म का अभाव कभी नहीं होता, सर्वव्यापक चेतन के नित्य संयोग से प्राण-स्पन्दन या प्राण की गति नित्य बनी रहती है।

---

3 श्रीअरविन्द, दि लैटर्स ऑन योग, वाल्यू० 22, पृ० 279

4 श्वेता० उप०, 1.3

5 भगवद्गीता, 14.5

6 श्वेता० उप०, 6.8

7 प्राण विज्ञान, पृ० 1-16

प्रकृति में प्राण की गति ही उसे सृजन की शक्ति प्रदान करती है।

प्रकृति प्रलयावस्था में भी पाषाण के समान निस्तब्ध और निष्क्रिय नहीं होती। सर्वव्यापक चेतन का संयोग उसे प्राणमय बनाये रखता है। प्रलय एवं सृजन काल में प्राण की सामान्य एवं विशेष गति से प्रकृति क्रियाशील रहती है।

प्रलयावस्था में प्रकृति में प्राण की गति अत्यन्त सूक्ष्म और सामान्य होती है। सृजन-काल में यह गति तीव्र और विशिष्ट हो जाती है।

प्रलयावस्था प्रकृति का विश्राम-काल होता है। इस काल में विशेष क्रिया का सर्वथा अभाव हो जाता है। इस कारण प्रसुप्तवत् शान्त प्रकृति में किसी प्रकार का परिवर्तनशील संकोच अथवा विकास नहीं होता। प्रकृति में चेतन ब्रह्म के संयोग से व्याप्य-व्यापक भाव से प्राण की सामान्य-सी गति या कम्पन तो अवश्य बना रहता है परंतु कोई विशेष परिणाम घटित नहीं होता। सूक्ष्म-सी गति एवं कम्पन से युक्त यह प्राण सूक्ष्म प्राण होता है। यही सूक्ष्म प्राण विशिष्ट गति में परिणत होकर सर्वप्राणियों के प्राण का कारण बनता है।

विश्राम-काल में प्रकृति प्राण के द्वारा शक्ति संचय करती है और पुनः नव सृजन के लिए प्रेरित होती है।

प्राण प्रकृति की साम्यावस्था, सृष्टिकालीन अवस्था, सृष्टि-पोषण अवस्था और प्रलयावस्था में सूक्ष्म, स्थूल गति के भेद से उसकी अन्तर्निहित या कार्यकारिणी शक्ति बनकर रहता है।

भारतीय विचार में आत्मा उपादान कारण नहीं है, न यह कर्ता है, न कारण। यह इस स्वयं प्रकाशमान की शक्ति है जो विविधा है और विविध रूपों का प्रकाशन करती है।[8]

आत्मा एवं प्रकृति के द्वैत का विश्लेषण करते हुए श्रीअरविन्द के शब्द हैं, "आत्मा एवं प्रकृति का द्वैत के रूप में अनुभव सत्य है, पर इनके एकत्व का अनुभव भी मान्य एवं संगत है। यदि 'प्रकृति' अथवा 'ऊर्जा' अपने रूपों एवं कार्यों को आत्म'सत्ता' पर आरोपित कर सकती है, तो केवल इसलिए, क्योंकि यह उस 'सत्ता' की प्रकृति या ऊर्जा है। 'प्रकृति' एवं परम 'सत्ता' का सम्बन्ध यह प्रकट करता है कि वे दोनों एक-दूसरे के लिए पृथक् या असम्बद्ध नहीं हैं। यह द्वित्व आत्म-प्रकाशन के कार्यों के लिए स्वीकार की गयी एक स्थिति है, पर परम'सत्ता'

---

8 श्वेता० उप०, 6.8

एवं 'चैतन्यशक्ति', 'आत्मा' एवं 'प्रकृति' के बीच कोई शाश्वत या मूलभूत पार्थक्य नहीं है।"[9]

वुडरॉफ के शब्दों में, "प्रकृति को द्विविध रूप में समझा जा सकता है। प्रथम, वस्तु जगत् के तात्त्विक कारण या मूल तत्त्व के रूप में और दूसरे, इस जगत् के रूप में, जो यह है। प्रथम अर्थ में प्रकृति 'मूलप्रकृति' है—सर्व वस्तुओं का मूल सार-तत्त्व। दूसरे अर्थ में प्रकृति यह वस्तुजगत् है, जो मूलप्रकृति का ही आविर्भाव है। मूलप्रकृति प्रकृति की अन्तर्निहित शक्ति है जो जगत् के रूप में अभिव्यक्त होती है।"[10]

प्राण एवं प्रकृति का सम्बन्ध एवं संयुक्त विश्लेषण प्रस्तुत करते हुए यह लक्ष्य किया जा सकता है कि 'बीजात्मा' प्राण एवं 'मूलप्रकृति' में तात्त्विक एवं लाक्षणिक साम्य है। दोनों ही इस जगत् का कारण तत्त्व हैं। 'बीजात्मा प्राण' प्राण के असंख्य गति-संचलनों का अन्तगर्भित रूप है और 'मूलप्रकृति' प्रकृति की क्रिया-शक्तियों का आधान। ये दोनों ही तत्त्व आविर्भावी हैं, पर अपने मूल गर्भ में अदृश्यमान एवं अव्यक्त हैं।

जिस प्रकार प्राण सर्ववस्तुओं का सत्य है, वैसे ही,
प्रकृति समस्त वस्तुओं का सार-तत्त्व है।

क्रियाशीलता, गति-कम्पन, स्पन्दन प्राण की ही भाँति प्रकृति की भी लाक्षणिकता है।

"यह संपूर्ण जगत् इसी भव्य आदि गति-संचलन के विभिन्न रूपों से आविर्भूत होता है—उदीयमान।

" 'मूलप्रकृति' तात्त्विक रूप में गति है, इसलिए साम्यावस्था में भी, गुणों का स्वयं में परिवर्तन-सरूपपरिणाम-बना रहता है, क्योंकि यह अन्तर्निष्ठ सूक्ष्म गति गुणों की अपनी प्रकृति है और बाह्य प्रभाव प्रस्तुत किये बिना भी वर्तमान रहती है। पर जब गुणों के साम्य में क्षोभ उत्पन्न होता है, वैषम्य, तब सृष्टि घटित होती है।"[11]

---

9 दि लाइफ़ डिवाइन, वाल्यू॰ 18 पृ॰ 350

10 सर जॉन वुडरॉफ़, शक्ति एंड शाक्त, पृ॰ 243

11 सर जॉन वुडरॉफ़, शक्ति एंड शाक्त, पृ॰ 245

योगेश्वरानन्द[12] के मत में गुण प्रकृति का नहीं, बल्कि प्राण का प्रथम प्रदुर्भाव हैं।

इस अर्थ में भी ये सर्वव्यापी प्राण के त्रिविध गति-संचलन हैं जो प्रकाशन एवं निगूहन का कार्य करते हैं।

देवात्मशक्ति इन त्रिगुणों से आवृत है[13]

प्राण-हंस प्रकृति के इन तीन वैशिष्ट्यों से ढका हुआ है :

त्रिवृतं च हंसम्।[14]

आदि

प्राण ने भौतिक प्रकृति में स्वयं को प्रतिष्ठित किया है :

प्रतिष्ठितोऽन्ने . . .[15]

यह 'अन्न' पारिभाषिक रूप में भौतिक तत्त्व की ठोस संहति है, जहाँ सूक्ष्म प्रांजल प्राण अपनी अवस्थिति बनाता है . . . जहाँ वह अपने को व्याप्त और व्यापक करता है, आविर्भावों में प्रकाशमान् होने के लिए।

वस्तुतः, भौतिकता के समस्त पक्ष प्राण का ही रूप एवं क्षेत्र हैं, उसकी प्रतिरूपताएँ।

क्रिया का कोई भी रूप—दर्शन-श्रवण-मनन या अन्य कुछ—प्राण की गति का ही प्रस्तुतीकरण है।

आकाश, वायु, अग्नि, जल एवं पृथिवी—प्रकृति की इन पंचभौतिक अवस्थाओं के परोक्ष में प्राणशक्ति के प्रकम्पन अथवा संचलन की पाँच संघटक क्रियाएँ हैं।

श्रीअरविन्द के शब्दों में—"हर चीज़ कम्पन या संचलन से आरंभ होती है, मूल 'क्षोभ' या बाधा से। चैतन्य में यदि गति-कम्पन न हो तो वह केवल अपने स्थैतिक अस्तित्व को ही जान सकता है। चैतन्य में गति-कम्पन न होने से ज्ञान की कोई क्रिया संभव नहीं है, इसलिए बोध एवं अनुभव भी नहीं; शक्ति में यदि गति-कम्पन न होगा तो बोध का कोई विषय भी नहीं होगा . . .

समस्त संक्रियाओं अथवा सार्विक संज्ञान का यही मूल सत्य है।"[16]

---

12 प्राण विज्ञान, पृ० 1-16

13 श्वेता० उप०, 1.3

14 अथर्व, 10.8.17

15 मुंडक उप०, 2.2.8

16 दि उपनिषद्स, वाल्यू० 12, पृ० 195-196

"चैतन्य सत्ता का यह कम्पन रूप-ग्रहण में अनेक उत्तरोत्तर क्रियाओं का आकार लेता है। सर्वप्रथम, कम्पन की तीव्रता एक ऐसे नियत लय-आवर्तन का सृजन करती है जो समस्त रचनात्मक निर्माण का संघटक अथवा मूल है; दूसरे, चैतन्य सत्ता की गतियों का संस्पर्श जो लय की रचना करता है; तीसरे, संस्पर्शित गतियों के समूहन की स्पष्टता, उनका रूप; चौथे, मूलभूत शक्ति का अपने नैरन्तर्य के अं र गति को आधार देने के लिए सतत उमड़ना; पाँचवें, शक्ति का अपनी गति में वास्तविक प्रवर्तन एवं दबाव जो लिये गये रूप को बनाये रखता है।[17]

"प्रकृति में हुई ये पाँच संघटक क्रियाएँ सांख्यों के अनुसार सत्त्व की पंचभौतिक स्थितियों को प्रकट करती हैं—आकाश, वायु, अग्नि, जल एवं पृथिवी; और इनमें कम्पन की जो लय है, वह शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गंध है . . . मूलभूत रूप में समस्त निर्मा . . . सूक्ष्म से सूक्ष्म तक . . . परीक्षण करनेपर गतिशील चैतन्य-शक्ति (प्राण-ऊर्जा) के इसी पंचमुखी कार्य के तुल्य हैं।[18]

प्राण की यह क्रिया, जो निर्माण एवं नियमन दोनों करती है, संज्ञानयुक्त है, क्योंकि प्राण अपने मूल गति-कम्पन में परमोच्च कम्पन है, यद्यपि वह अपने अवरोहण और अन्तर्वलयन में प्रकृति की ठोस संहति 'भूमि' तक व्याप्त है।

इन्द्रियों से परे—मन की रचना हो या स्वभाव की या आत्मा की—चेतना के किसी भी शिखर पर,

भौतिक प्रकृति के किसी भी घनत्व में
प्राण का संचरण है
कहीं नीरव, पदचाप-रहित
कहीं तीव्र, संकुल, शब्दायमान।

अव्यक्त प्रकृति एवं व्यक्त प्रकृति—प्रकृति की इन दोनों अवस्थाओं में जो भी सूक्ष्म गति या क्रिया देखने में आती है, वह प्राण की गति एवं क्रिया है। अव्यक्त प्रकृति अर्थात् मूलप्रकृति के अंदर तथा पंचभूतात्मक त्रिगुणात्मक प्रकृति के अंदर

सर्वत्र
प्राण क्रियाशील है।

---

17 दि उपनिषद्स, वाल्यू॰ 12, पृ॰ 195-196

18 श्रीअरविन्द, दि उपनिषद्स, वाल्यू॰ 12, पृ॰ 196-197

प्राण एवं सृष्टि

सृष्टियों में मैं आदि, मध्य एवं अंत हूँ।

गीता[1]

वस्तुतः संपूर्ण सृष्टि, क्योंकि यह 'शाश्वत' के चेतन सत्त्व से निःसृत होती है, उसी का प्राकट्य है और प्रवर्त्तनशील चित्‌शक्ति में श्रद्धा, स्वीकृति, होने की इच्छा द्वारा अग्रसर होती है।

—श्रीअरविन्द[2]

अनेक रूप लेकर जिसने विश्व की सृष्टि की।

—श्वेता०[3]

सृष्टि का अर्थ है जो सत्ता में विद्यमान है, उसकी उन्मुक्तता एवं प्रकाशन। अन्तर्निहित का प्राकट्य में आ जाना, प्रसृत हो जाना।

सृष्टि किसी नयी वस्तु की रचना नहीं है, वह अनाम और अरूप की नामरूपात्मक प्रतीयमानता है।

"जो अनन्त सत्ता में गोपन या प्रच्छन्न था, उसका प्राकट्य सृष्टि है।"[4]

"वस्तुतः 'अनन्त' सत्ता रचना नहीं करती है, बल्कि जो इसमें है, इसकी सत्ता के सार में है, उसी को प्रकट करती है; यह स्वयं संपूर्ण सत्ता का सार है और समस्त सत्ताएँ इस एक सत्ता की शक्तियाँ हैं। वह 'परम पूर्ण' न तो रचता है न रचा जाता है। हम सृष्टि का केवल इस अर्थ में कथन कर सकते हैं कि यह सत्ता का रूप एवं गति में वह आविर्भाव है जो सत्त्व एवं स्थिति में पहले से ही विद्यमान था।"[5]

---

1 **सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहम्**

भगवद्गीता, 10.32

2 श्रीअरविन्द, एस्सेज़ ऑन द गीता, वाल्यू० 13, पृ० 467

3 **विश्वस्य स्रष्टारमनेकरूपम्**।—श्वेता० उप०, 5.13

4 श्रीअरविन्द, दि सीक्रेट ऑफ दि वेद, वाल्यू० 10, पृ० 425

5 श्रीअरविन्द, दि लाइफ़ डिवाइन, वाल्यू० 18, पृ० 333

उपनिषदों में उस एक सत्ता के सृष्टि में बहुल हो जाने का सर्वत्र उल्लेख है। यह विविधा सृष्टि जो उस 'परम' में अविविध एवं एकत्व में विद्यमान है, वही प्राकट्य में विविध और बहुल हो जाती है :

एकं बीजं बहुधा यः करोति।[6]

जिस प्रकार मकड़ा अपने ही तन्तुओं से अपने को आवृत कर लेता है, उसी प्रकार वह एक देव अपनी ही अव्यक्तता में से उद्‌भूत नाम-रूप-कर्म के तन्तुओं से स्वयं को आवृत कर लेता है।

यस्तन्तुनाभ इव तन्तुभिः प्रधानजैः स्वभावतः।
देव एकः स्वमावृणोत्।[7]

सृष्टि के विषय में सब पृथक् प्रकार से बोलते हैं।

कुछ मनीषि कहते हैं कि यह अन्तःगर्भित प्रकृति है जो कारण है। दूसरे भ्रमवश कहते हैं कि वह काल है। पर वस्तुतः, प्राणियों के इस लोक में यह 'देव' की महिमा है जो इस ब्रह्म-चक्र को निरंतर परिभ्रमणशील रखती है :

स्वभावमेके कवयो वदन्ति कालं तथान्ये परिमुह्यमानाः।
देवस्यैष महिमा तु लोके येनेदं भ्राम्यते ब्रह्मचक्रम्॥[8]

उस परम 'अव्यक्त' में 'व्यक्तीकरण' की शक्ति स्वाभाविक रूप से अन्तर्निहित है और यह शक्ति प्राण है, चिद्‌रूपिणी शक्ति। यही कॉस्मिक शक्ति है, जो शुद्ध चैतन्य के आत्म-विस्तार में आविर्भावों की शृंखलाओं को पिरोती है।

प्राण 'बीजात्मा' है।
गर्भ की अव्यक्तता में भी वही स्पन्दित है,
और जन्म के प्रक्षेपण में भी वही कारण है :

अपानती प्राणति पुरुषो गर्भे अन्तरा।
यदा त्वं प्राण जिन्वस्यथ स जायते पुनः॥[9]

---

6 श्वेता० उप०, 6.12
7 श्वेता० उप०, 6.10
8 श्वेता० उप०, 6.1
9 अथर्व०, 11.4.14

गर्भस्थ आत्मा प्राण-अपान, श्वसन-प्रश्वसन की क्रिया कर रही है, पर यह प्राण की प्रकटनशील प्रेरणा है जो उसे व्यक्तता प्रदान करती है। श्लोक का 'पुनः' शब्द जन्म की अभिव्यक्ति का सूचक है।

यह श्लोक प्राण की दुहरी शक्ति को प्रकट करता है।

अव्यक्त सृष्टि में भी प्राण है—प्राण का सूक्ष्म स्पन्दन, 'चैतन्य' सत्ता में चित्शक्ति का स्पन्दन। पर यह प्राण का प्रकट संचार है, जो उस अंतःसृष्टि, गर्भस्थ सृष्टि को 'जन्म' प्रदान करता है।

प्राण की बहिर्गमनशील शक्ति इस अन्तःस्थित सूक्ष्म स्पन्दनशील अव्यक्तता को गर्भ से बाहर ले आती है। यह बीजात्मा प्राण की प्राकट्यशक्ति है जो इसे इस रूप में घटित करती है।

इसी सत्य को कुछ प्रकारान्तर से, उपनिषद् में, इन शब्दों में अभिव्यक्त किया गया है :

प्रजापतिश्चरसि गर्भे त्वमेव प्रतिजायसे।[10]

प्रजापति के रूप में, हे प्राण, तुम गर्भ में संचरण करते हो और उसी सादृश्य के साथ उत्पन्न होते हो।

अन्तःसृष्टि एवं बाह्यसृष्टि में स्वरूपगत कोई भेद नहीं है। वह जो है, वही फिर उत्पन्न होता है :

अन्तर्गर्भश्चरति देवतास्वाभूतो भूतः स उ जायते पुनः।[11]

प्राण की अन्तः बाह्य इन दोनों स्थितियों को इस रूप में स्वीकार किया जा सकता है कि तत्त्वतः एक होने पर भी 'गर्भ' में प्राण की गति एकीकृत एवं अविभक्त है और बाहर वह बहुल, विभिन्न एवं विभक्त है। सृष्टि में विविधता एवं अनेकता प्राण के असंख्यक गति-बाहुल्य के कारण ही है।

विश्व-सृष्टि में एवं प्राणियों में यह प्राण अपने अनेक गति-संचलनों द्वारा स्थित रहता है :

. . . यः प्राणैः प्रतितिष्ठसि।[12]

प्राण अंदर अदृश्य रहकर स्वयं को अनेक रूपों में उत्पन्न करता है :

---

10 प्रश्न उप०, 2.7

11 अथर्व०, 11.4.20

12 प्रश्न उप०, 2.7

गर्भे अन्तरदृश्यमानो बहुधा वि जायते।[13]

वस्तुतः यह सृष्टि प्राण के बहुगुणित कम्पनों का अनन्त अभिव्यक्तीकरण है। यह अपने उच्चतर स्तरों पर सूक्ष्मतर और निम्नतर स्तरों पर स्थूल एवं तीव्रतर गति-कम्पनों का आविर्भाव है।

श्रीअरविन्द के शब्दों में, "सम्पूर्ण सृष्टि विविधता की अधिरचना के साथ एकरूपता एवं एकता के आधार पर अग्रसर होती है। सर्वोच्च सृष्टि में आधारभूत एकत्व एवं एकरूपता की पूर्णतम शक्ति विद्यमान है और इसी आधार पर समुचित और विनियमित वैविध्य की पूर्णतम शक्ति भी है।"[14]

योगेश्वरानन्द[15] ने सृष्टि को दो स्तरों में विभक्त किया है :

१. ब्राह्मी सृष्टि

२. जीव सृष्टि

'ब्राह्मी सृष्टि' में प्राण की गति 'समष्टिगत' है एवं
'जीवसृष्टि' में प्राण का संचलन व्यष्टि में है।

मूलप्रकृति एवं चेतन पुरुष के संयोग से उत्पन्न 'समष्टि प्राण' आदि प्राण है। आत्मा एवं चित्त के संयोग से उत्पन्न प्राण 'व्यष्टि प्राण' है।

आदि प्राण के अतिरिक्त छह सूक्ष्मतर समष्टि प्राण हैं जो प्राकृतिक सृष्टि के अंदर समष्टिगत सत्त्व, रज, तम एवं समष्टिगत चित्त, बुद्धि, अहंकार इन छह तत्त्वों में गतिशील होते हैं। इन सात समष्टि प्राणों को कॉस्मिक या ब्रह्मांडीय प्राण की संज्ञा दी जा सकती है। ये प्रकृति की आदि सृष्टि के निर्माण में सहायक होते हैं, जिसे 'ब्राह्मी सृष्टि' कहते हैं।

'जीव सृष्टि' में प्राण कारण शरीर में अवतरित होकर जीवात्मा का रूप ग्रहण करता है, तत्पश्चात् सूक्ष्म एवं स्थूल शरीर के स्तरों को प्राप्त करता है। इस सृष्टि में सत्त्व, रज, तम के भेद से तरेसठ व्यष्टि प्राणों की सक्रियता है।

ब्राह्मी सृष्टि में सात समष्टि प्राण केवल प्रकृति की बदलती हुए अवस्थाओं में क्रिया या गति का हेतु बने रहते हैं, जब कि 'जीव सृष्टि' में व्यष्टि प्राण

---

13 अथर्व, 10.8.13

14 श्रीअरविन्द, कलेक्टेड पोयम्स, वाल्यू० 5, पृ० 368

15 प्राणविज्ञान

विकासमूलक गति अथवा प्रवृत्ति एवं निवर्तन अथवा निवृत्ति की भूमिका का निर्वाह करते हैं। ये व्यष्टि प्राण व्यक्ति के भोग एवं मोक्ष का सम्पादन करते हैं।

ब्राह्मी सृष्टि में प्राण बिना किसी विभेदीकरण के साम्यावस्था में संचरण करता है। जीवसृष्टि में प्राण की गति में वैषम्य एवं विभिन्नता रहती है।

वस्तुतः चैतन्य ही समष्टि एवं व्यष्टिस्तरों पर द्विधा सृष्टि का रूप धारण करता है। ये चेतना की ही परा एवं अपरा अवस्थाएँ हैं। यही परा एवं अपरा प्रकृति है। शैवागम का 'शुद्ध अध्वा' एवं 'अशुद्ध अध्वा' भी यही है। वेदान्त की तुर्यावस्था समष्टि सृष्टि है एवं जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति अवस्थाएँ अपरा सृष्टि के ही स्थूल एवं सूक्ष्मतर स्तर हैं।

प्राण सृष्टि के सूक्ष्म से सूक्ष्मतम एवं स्थूल से स्थूलतम स्तरों पर विद्यमान है।

श्री पंडित के शब्दों में, "प्राण की चारों अवस्थाएँ (जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, तुर्या) पूर्ण एवं परात्पर, अनन्त, शुद्ध चैतन्य में उदित एवं अस्त होती रहती हैं, उन्मीलित एवं निमीलित होती रहती हैं। यह तुर्यातीत अवस्था है। प्राण की ये अवस्थाएँ (परा एवं अपरा सृष्टियाँ) इसी से निःसृत होती हैं और इसी में लय होती हैं।"[16]

प्राण का सार-सत्त्व चैतन्य है। इस सत्य पर प्रकाश डालते हुए श्री पंडित का कथन है, "चैतन्य प्राण की सर्व स्थितियों को व्याप्त करता है। किसी भी अवस्था में चैतन्यरहित प्राण को अनुभव नहीं किया जा सकता। चैतन्य ही प्राण का सार है।[17]

प्राण के सारभूत इस चैतन्य की प्रकृति को स्पष्ट करते हुए श्री पंडित कहते हैं: "चैतन्य की मूल प्रकृति ज्योतिर्मय है। यह चमकता है और ज्ञान के किसी भी अन्तर-बाह्य साधन की सहायता के बिना स्वयं को प्रकट करता है। हमारे अनुभव में यदि कुछ भी हमें प्रत्यक्ष होता है तो इसी आन्तरिक प्रकाशमानता के कारण। चैतन्य की यह ज्योतिर्मयता अपनी सत्ता के विषय में नित्य चेतन है। ... मूलभूत आत्म-चैतन्य अन्तर्मुख-निर्देशित ज्ञान एवं क्रिया का एक रूप है। ज्ञान भी एक सूक्ष्म क्रिया है जो प्रकाशमयता के तत्त्व को आवेष्टित करती है।"[18]

---

16 बी० एन० पंडित, स्पेसिफ़िक प्रिंसिपल्स ऑफ कश्मीर शैविज़्म, पृ० 38

17 बी० एन० पंडित, स्पेसिफ़िक प्रिंसिपल्स ऑफ कश्मीर शैविज़्म, पृ० 40-41

18 वही

सुषुप्ति अवस्था में मन क्रियाशील नहीं रहता। इस संदर्भ में श्री पंडित प्राण की क्रियाशीलता का उल्लेख करते हुए कहते हैं, "इसलिए जीवन-शक्ति अथवा प्राण को किसी ऐसी सत्ता में अवस्थित होना चाहिए, जो मन एवं दूसरे अन्तःकरणों का अतिक्रमण करती है। शैव-दर्शन शुद्ध चैतन्य के रूप में इसका वर्णन करता है।"[19]

वेद एवं उपनिषद्-वाङ्मय में चेतना के सात स्तरों का उल्लेख एवं विश्लेषण है। ये सप्त लोक हैं—परा एवं अपरा सृष्टि के सात स्तर, प्राण जिनमें संचरण करता है :

सप्त इमे लोका येषु चरन्ति प्राणा[20]

चैतन्य एक एवं अविभक्त है, किंतु प्राकट्य में यह गति-स्थितियों की श्रेणी एवं अनुक्रमता हो जाता है। अवरोहणशील एवं आरोहणशील गति इस अनुक्रम-श्रेणी का निर्माण करती है।

श्रीअरविन्द के आलेखों में इन सत्यों का व्यापक विश्लेषण प्राप्त होता है। उनके शब्द हैं, "आवेष्टन के भीतर अवरोहण में व्यक्त सत्ता को सात तत्त्वों के रूप में पहचाना जा सकता है। ये प्राकट्यशील चेतना के सात सोपान हैं। इनमें पहले तीन मौलिक एवं आधारभूत हैं। ये आत्मिक सत्य के व्यक्त परम स्तर हैं जहाँ सत्, चित्, आनन्द का एकत्व, शक्ति एवं आनन्द है।"[21]

ये तीनों तत्त्व 'ऊर्ध्व गोलार्ध' का निर्माण करते हैं। श्रीअरविन्द ने इसे 'परार्ध' सृष्टि की संज्ञा दी है।

इस सृष्टि में आत्मा का पूर्ण ज्ञान एवं स्वातंत्र्य है, चैतन्य-ऊर्जा प्राण पूर्ण शुद्ध है और वह आत्मा की नीरवता में शांत एवं स्थिर संचरण करता है। यह संचरण देश-काल, अज्ञान एवं अहंकार द्वारा विभक्त नहीं है। यह अक्षुब्ध एवं अनुक्रम-रहित है। यह, वस्तुतः, प्राण का आत्मिक तद्रूपता के भीतर संचलन है। नीरव, शांत, स्थिर।

यह सृष्टि का ऊर्ध्वतम अभिव्यक्ति-स्तर है।

---

19 स्पेसिफ़िक प्रिंसिपल्स ऑफ कश्मीर शैविज़्म, पृ० 41

20 मुंडक उप०, 2.1.8

21 दि लाइफ़ डिवाइन, वाल्यू० 19, पृ० 662-663

" 'सत्य' चेतना का चौथा विज्ञानमय स्तर इन तीन के साथ संयुक्त है। यह अनन्त विविधता में एकत्व को प्रकट करता है। यह 'अनन्त' के आत्म-निर्धारण की लक्षणात्मक शक्ति है। सत्-चित्-आनन्द एवं विज्ञान की चतुष्क शक्ति ही आत्मा के शाश्वत आत्मज्ञान पर आधारित सृष्टि के परार्ध का निर्माण करती है।"[22]

सृष्टि के तीन अन्य स्तर निम्न गोलार्ध की रचना करते हैं। यह अपरार्ध सृष्टि है।

ये मन, प्राण, शरीर के लोक हैं। यहाँ चित्-ऊर्जा प्राण क्षुब्ध एवं विभक्त है। वह

शरीर में शारीरिक ऊर्जा
प्राण में प्राणिक ऊर्जा एवं
मन में मानसिक ऊर्जा के रूप में कार्य करता है।

'सत्य' चेतना का विज्ञानमय लोक परार्ध के वैशिष्ट्य से युक्त होने पर भी परार्ध एवं अपरार्ध इन दो सृष्टियों के बीच का संयोजक जोड़ है। विज्ञानमय लोक की परम चेतन प्राण-ऊर्जा सत्-चित्-आनन्द एवं शरीर, प्राण, मन के बीच कड़ी का कार्य करती है।

प्राण-तत्त्व प्राकट्य की परार्ध एवं अपरार्ध दोनों सृष्टियों में अमर है।

परार्ध में प्राण-गति की स्थिरता इतनी शक्तिशालिनी है कि दौड़ रही दूसरी सत्ताओं के पार चली जाती है :

तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्[23]

अपरार्ध में यह गति गति के अंदर है :

जगत्यां जगत्[24]

समष्टि विश्व-संचलनों में व्यक्ति विश्व का संचलन। विराट् ब्रह्मांड के अनेक गति-प्रकम्पनों में लघु ब्रह्मांड का गति-प्रकम्पन। अनन्त गतियों में एक गति। दोनों एक-दूसरे के अंदर।

---

22 दि लाइफ़ डिवाइन, वाल्यू॰ 19, पृ॰ 662-663

23 ईश उप॰, 4

24 ईश उप॰, 1

प्राण सर्वत्र व्याप्त है। इसके एक सिरे पर शाश्वत शांत निश्चलता और शुद्ध तादात्म्य है और दूसरे छोर पर शाश्वत ऊर्जा और सर्व के साथ एकात्मता है। यह शांत आत्मस्पन्दित ऊर्जा ही ऊर्जा-गति और उसके वैविध्य का आधार है। यही वह 'उत्स' है जिससे प्राण अग्रसर होता है :

येन प्राणः प्रणीयते।[25]

शास्त्र जिसे प्राण का प्राण कहते हैं—**प्राणस्य प्राणः**[26] , वह प्राण का ऊर्ध्वतम शिखर है, शुद्ध चैतन्य, जहाँ से प्राण प्रस्रवित होता है—प्रवहमान।

परार्ध सृष्टि की चित्शक्ति (शुद्ध प्राण-ऊर्जा) अपरार्ध की प्राण-शक्ति को नित्य आकर्षित करती है कि वह अपनी बहिर्गमनशील गति से निकलकर अन्तर्मुखी नीरवता में लौट सके, जो उसका उद्‌गम-स्थल है या जहाँ वह स्वयं शुद्धतम रूप में अवस्थित है। यह सादृश्य या साधर्म्य का नहीं, 'एकत्व' का दबाव है, क्योंकि प्राण दोनों स्तरों पर गति-वैभिन्न्य के होने पर भी एक है, दोनों सृष्टियों में तत्त्वतः एक।

"गति 'शांत-निश्चलता' का ही प्रतिभास है और 'शांत-निश्चलता' को एक ऐसी 'गति' के रूप में स्वीकार किया जा सकता है जो देवों के लिए भी द्रुत है। पर यह गति स्थानिक, भौतिक एवं कालिक गति नहीं है, यह गति का केवल चैतन्य में होना है।"[27]

ब्रह्मांडीय सृष्टि में ये सात तत्त्व मूलभूत एवं मुख्य हैं। परार्ध (सत्, चित्, आनन्द) संपूर्ण सृष्टि का आधार है।

प्राण विज्ञानमय लोक की परम चेतन ऊर्जा-शक्ति है। यह परार्ध एवं अपरार्ध सृष्टि के बीच की कड़ी है और नित्य, शाश्वत एवं अमर है :

अमृतमथेदम्[28]

---

25 केन उप०, 1.8

26 केन उप०, 1.2

27 श्रीअरविन्द, दि उपनिषद्स, वाल्यू० 12, पृ० 137

28 ईश उप०, 17

प्राण एवं जगत्

यह संपूर्ण गतिशील जगत् प्राण में ही संचरण करता है और प्राण से ही निःसृत होता है।

कठ[1]

ये सात लोक हैं जिनमें प्राण संचरण करते हैं।

मुंडक[2]

'जगती' प्रकृति का ही एक रूप है जिसका मूलभूत वैशिष्ट्य गति है; क्योंकि गति से ही वह इस भौतिक जगत् की सृष्टि करती है और जो कुछ भी दृश्य, श्रव्य या बोधगम्य है, वह गति का ही परिणाम है। हर भौतिक वस्तु 'जगत्' है—अनन्त गतिमय—यहाँ तक कि पत्थर, मिट्टी का एक ढेला भी।

श्रीअरविन्द[3]

'जगत्' के लिए प्रयुक्त प्रायः सभी पर्यायवाची शब्द तीन मुख्य संलक्षणों को प्रकट करते हैं :

१. प्रकाश
२. गति या कम्पन
३. प्राकट्य एवं प्रसरण

'लोक' प्रकाशमानता या दृश्यता है।
'जगत्' में गति या गमनशीलता है।
'संसार' संसरण है।
'संसृति' प्रवाह है।
'भुवन' अस्तित्व का प्राकट्य में निरन्तर होना है।
'विश्व' विस्तार और व्यापकता है।

---

1 यदिदं किञ्च जगत्सर्वं प्राण एजति निःसृतम्।

कठ उप०, 2.3.2

2 सप्त इमे लोका येषु चरन्ति प्राणा

मुंडक उप०, 2.1.8

3 दि उपनिषद्स्, वाल्यू० 12, पृ० 451

'ब्रह्मांड' विस्तृत और वर्धमान का कोश है।

यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है कि जगत् के संलक्षणों से प्राण के संलक्षणों का न केवल सादृश्य है, बल्कि उनमें एकात्मकता है।

प्राण के संदर्भ में 'जगत्' का शाब्दिक विश्लेषण उसे प्राण की शाश्वत गति, उसके मुख्य संलक्षण के साथ संयुक्त करता है। 'गम्' धातु से जगत् का अर्थ है—गतिशील। नित्य एवं निरन्तर कम्पनशील। जगत् अर्थात् शाश्वत कम्पनों का सामंजस्य एवं समन्वय। और इसमें विद्यमान हर रूप विभिन्न कम्पनों का विविध संयोजन है।

उपनिषद् जगत् या इस ब्रह्मांड का विराट गति के रूप में उल्लेख करते हैं। इसकी हर वस्तु-सत्ता स्वयं एक गति है गति में विद्यमान एक गति, जगत् के भीतर एक जगत् :

जगत्यां जगत्।[4]

प्राण चित्-ऊर्जा है, चित्शक्ति, और यह गति है।

"चैतन्य का ऐसा कोई माध्यम नहीं, जो निरन्तर गतिशील न हो। ऐसा कोई माध्यम नहीं, जो भिन्न मात्रा में चैतन्य को प्रकट न करता हो।"[5]

"भौतिक द्रव्य आत्यन्तिक गतिशीलता है और ऐसा कहा जाता है कि यह 'एक अचेतन संवेदनशीलता से युक्त है और इसे किसी की भी चेतन संवेदन-शीलता से अभिगम नहीं किया जा सकता'—भौतिक विज्ञानियों के बीच 'भौतिक द्रव्य का जीवन' यह अभिव्यक्ति अब सामान्य हो गयी है।"[6]

वस्तुतः यह चित्शक्ति है जो इस जगत् की सर्व वस्तुओं में यथानुरूप चमकती है। यह वस्तुओं का केन्द्रीय हृदय है :

. . . यद् यद् वस्तु यथा यथा। तत्तद्रूपेण या भाति . . .[7]

जब जगत् का बहुवचनात्मक उल्लेख किया जाता है, तब उसका अर्थ है कि इस पृथ्वी, इस भूलोक के अतिरिक्त भी अन्य लोकों या भुवनों की सत्ता है।

श्रीअरविन्द के शब्दों में, "इससे परे या पार भी लोकों की सत्ता है। उनकी

---

4 ईश उप०, ।

5 सर जॉन वुडरॉफ़, दि वर्ल्ड ऐज़ पावर, पृ० 66

6 वही

7 वुडरॉफ़ द्वारा 'योगिनीहृदयतंत्र' से उद्धृत

अपनी सार्वभौमिक लय है, भव्य रेखाएं और निर्मितियाँ हैं। उनके स्वयं-विद्यमान नियम एवं शक्तिशाली ऊर्जाएँ हैं। उनके पास ज्ञान के न्यायपूर्ण यथातथ्य प्रकाशमान साधन हैं। और यहाँ हमारी भौतिक सत्ता पर और हमारे शरीर में वे अपने प्रभावों का प्रयोग करते हैं। यहाँ भी वे अपने प्रकाशन के साधनों एवं माध्यमों को संगठित करते हैं और अपने संदेशवाहकों एवं साक्षियों को नियुक्त करते हैं।"[8]

पर ये जगत् हमारे अनुभव के केवल चौखटे हैं, एक गठन। और इन्द्रियाँ अनुभव की यंत्रमात्र हैं। "यह चैतन्य है जो सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण आधारभूत तथ्य है, सार्विक साक्षी, जिसके लिए जगत् एक क्षेत्र है और इन्द्रियाँ यंत्र। उस साक्षी से ये जगत् और इनकी वस्तुएँ अपनी वास्तविकता के लिए अनुरोध करती हैं। जगत् एक है या अनेक हैं, भौतिक हैं या आधिभौतिक, उनकी सत्ता के विषय में इस चैतन्य के अतिरिक्त हमारे पास अन्य कोई प्रमाण नहीं है।"[9]

किन्तु, इस प्रमाण का हम प्रतिक्षण अनुभव करते हैं, क्योंकि यह हममें है और जीवन के रूप में हम इसे अंदर और बाहर महसूस करते हैं।

जगत् का साक्षी चैतन्य आत्मा है।

"संपूर्ण प्रतीयमान सत्ता एक साक्षी चेतना और एक क्रियात्मक वस्तुपरकता से युक्त है। साक्षी के बिना क्रिया अग्रसर नहीं हो सकती, क्योंकि जगत् केवल चैतन्य में या चैतन्य के लिए विद्यमान है जो निरीक्षण करता है, इसके अतिरिक्त जगत् की कोई स्वतंत्र वास्तविकता नहीं है।"[10]

"जगत् सत्य है क्योंकि चैतन्य में इसकी अवस्थिति है; क्योंकि यह सत्ता के साथ एक और अभिन्न चित् ऊर्जा है जो जगत् की सृष्टि करती है।"[11]

यह जगत् एक है न नया।

"प्रथम सृष्टि जैसी कोई चीज़ नहीं है। जगत् आते हैं और चले जाते हैं—यह एक शाश्वत क्रम है। इसलिए यह जगत् पूर्णतया नया नहीं है, क्योंकि यह भूतकालिक भुवनों का ही परिणाम है।"[12]

---

8 श्रीअरविन्द, दि लाइफ़ डिवाइन, वाल्यू० 18, पृ० 19

9 वही

10 वही

11 श्रीअरविन्द, दि लाइफ़ डिवाइन, वाल्यू० 18, पृ० 22

12 सर जॉन वुडरॉफ़, दि वर्ल्ड ऐज़ पावर, पृ० 304

प्राण सर्वत्र है, गुह्य अभिव्यक्त, संगठित या तात्त्विक, आवेष्टित या विकसित। पर वह सार्विक है, सर्वव्यापी, अनाशवान्।

जब कभी कोई वैज्ञानिक प्रयोग किया जाता है तो स्पन्दन या कम्पन की ग्रहणशीलता एवं उसके उत्तर को दर्ज किया जाता है। एक गत्यात्मक ऊर्जा या शक्ति को एक विशिष्ट लक्ष्य की ओर निर्दिष्ट किया जाता है—और जब वहाँ से कोई प्रतिक्रिया प्राप्त होती है तो इसका अर्थ होता है कि उस वस्तु में निहित संवेदनशील कम्पन या गत्यात्मक संचलन से युक्त शक्ति ने उस निर्दिष्ट ऊर्जाशक्ति से मिले प्रघात का उत्तर दिया है। तब इस तथ्य को ग्रहण किया जा सकता है कि "जैसे जगत् में एक निरन्तर गत्यात्मक ऊर्जा गतिशील है, जो अनेक सूक्ष्म या स्थूल भौतिक रूपों को ग्रहण करती है, वैसे ही हर भौतिक शरीर या वस्तु में, वनस्पति, पशु या धातु में वही गत्यात्मक शक्ति संचित एवं क्रियाशील है। इन दोनों का एक निश्चित विनिमयन वह लाक्षणिकता है जो हमें जीवन के साथ संयुक्त करती है। यह वह कार्य है जिसे हम 'जीवन-ऊर्जा' के कार्य के रूप में पहचानते हैं और जो इस प्रकार स्वयं को ऊर्जित करती है वह 'जीवन-शक्ति' है," प्राणशक्ति।[13]

यह चित्‌शक्ति है, स्वयं चैतन्य ही, जो इस चराचर जगत् को उत्पन्न करता है :

चैतन्यात्सर्वमुत्पन्नं जगदेतच्चराचरम्।[14]

वस्तुतः, जगत् का प्राकट्य एक विक्षेप है, एक उत्सर्जन। उदय, आविर्भाव, एवं अनेक रूपों का प्रकाशन यह जगत् है। ये प्राण की शक्तियाँ हैं, सूर्यरूपी प्राण की रश्मियाँ, जो उदय में जगत् को व्याप्त कर लेती हैं।

यह संपूर्ण गतिमान् जगत् उस 'शक्तिशाली' के अवयवों के सदृश सृष्ट वस्तुओं से पूर्ण है :

तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत्।[15]

जो अचर और स्थावर है, जहाँ क्रिया दृष्टिगत नहीं है, न कोई श्वसन-

---

13 श्रीअरविन्द, दि लाइफ़ डिवाइन, वाल्यू० 18, पृ० 179-180

14 शिवसंहिता, 1.49

15 श्वेता० उप०, 4.10

प्रश्वसन, न कोई गति या गतिज परिवर्तन प्रत्यक्ष है, उन स्थावर वस्तुओं में, उस जगत् में भी प्राण है :

प्राणो ह सर्वस्येश्वरो यच्च प्राणति यच्च न।[16]

जगत् के समस्त स्तरों पर, दिव्य लोकों में भी जो कुछ है, वह प्राण के नियंत्रण में है :

प्राणस्येदं वशे सर्वं त्रिदिवे यत् प्रतिष्ठितम्।[17]

समस्त भुवन प्राण में ही अधिष्ठित हैं :
यस्मिँल्लोका अधिश्रितः।[18]

इसीलिए प्राण लोकपाल, लोकाधिपति एवं लोकेश है :
एष लोकपाल एष लोकाधिपतिः, एष लोकेशः[19]

प्राण ही विश्व का जन्म-कारण है और यही इस क्रियाशील जगत् का ईश है :

यो अस्य विश्वजन्मन ईशे विश्वस्य चेष्टतः।[20]

उसी में यह संचरणशील, श्वसन-प्रश्वसनयुक्त जगत् स्थित है :
तत्रेदं सर्वमार्पितमेजत् प्राणत् प्रतिष्ठितम्।[21]

प्राण सर्वत्र व्याप्त है :
और प्राण ही यह भव्य विश्व है :
विश्वमिदं वरिष्ठम्।[22]

प्राण बीजात्मा है, चैतन्य के हृदय में अवस्थित बीज, जिसमें यह विशाल विश्व-वृक्ष स्थित है, यह चराचर जगत्।

---

16 अथर्व०, 11.4.10
17 प्रश्न उप०, 2.13
18 श्वेता० उप०, 4.13
19 कौषी० ब्रा० उप०, 3.8
20 अथर्व०, 11.4.23
21 अथर्व०, 10.8.6
22 मुंडक उप०, 2.2.12

यथा न्यग्रोधबीजस्थः शक्तिरूपो महाद्रुमः।
तथा हृदयबीजस्थं जगदेतच्चराचरम्॥[23]

इसीलिए इस विश्व-वृक्ष का मूल ऊर्ध्वस्थित एवं इसकी शाखाएँ नीचे प्रसृत कही गयी हैं, यह वृक्ष अव्यय है :
ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।[24]

प्राण न केवल बीज है, बल्कि विशाल सनातन वटवृक्ष भी वही है। वही ब्रह्मन् है, वही अमृत है, उसी में सारे लोक अवस्थित हैं।[25]

वह एक ही विश्वाकार होकर प्रकाशित होता है :
तिष्ठन्विश्वाकार एकोऽवभासि।

यह अन्तःस्थित का ही बाहर प्रकाशमान होना है :
आत्मसंस्थस्य भावजातस्य भासनम्।[26]

वह एक अपनी अनन्त विभूतियों से इन लोकों को व्याप्त कर अवस्थित है :
याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमां . . . व्याप्य तिष्ठसि।[27]

वह सर्व सत्ताओं का बीज है। और
इस चर-अचर विश्व में ऐसा कुछ भी नहीं, जो उसके बिना हो।[28]

वह परम ईश-सत्ता इस संपूर्ण विश्व को अपने एक अंश से थाम कर स्थित है :

विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्।[29]

प्राण के प्रति प्रत्यक्ष कथन है कि वह अपने आधे भाग से इस संपूर्ण जगत् को उत्पन्न एवं स्थित करता है :

---

23 परात्रिंशिका, 24
24 भगवद्गीता, 15.1
25 कठ० उप०, 2.3.1
26 ईश्वर प्रत्य०, 1.5.10
27 भगवद्गीता, 10.16
28 भगवद्गीता, 10.39
29 भगवद्गीता, 10.42

अर्धेन विश्वं भुवनं जजान[30]

वस्तुतः एक प्राण का ही अनन्त संख्याओं के रूप में विस्तार हुआ है। एक, अनन्त, अवान्तर संख्याओं से विशिष्ट यह देव प्राण ही है :

प्राणस्यैव चैकस्य सर्वोऽनन्तसङ्ख्यातो विस्तरः एवमेकश्चानन्तश्च।
अवान्तरसंख्याविशिष्टश्च प्राण एव।[31]

यह ऊर्जा है जो जगत् का आविर्भाव प्रस्तुत करती है। यह प्राण-शक्ति है जो चैतन्य की असंख्य किरणों को बाहर प्रसारित करती है।[32]

"इस ऊर्जा की प्रकृति ही है कार्य करने की क्षमता, अवरोध का अतिक्रमण और गति। इसलिए संपूर्ण ऊर्जा गत्यात्मक है, यहाँ तक कि स्थितिज ऊर्जा भी सूक्ष्म एवं अगोचर रूपों में गति की ही ऊर्जा है।"[33]

"गति का यह नैरन्तर्य स्थैतिक भी हो सकता है और गत्यात्मक भी। स्थैतिक में 'सत्ता' का सातत्य है, गत्यात्मक में 'परिणति' का सातत्य है। इस विश्लेषण के आधार पर स्थैतिक सातत्य चिदाकाश या परम सत्ता है; गत्यात्मक सातत्य चित् या चित्शक्ति है। चित् सत्ता के रूप में या चित् परिणति की शक्ति के रूप में पूर्णतया नित्य और निरन्तर है। चित् में शक्ति का राहित्य कभी नहीं है और शक्ति सदा ही चित्-युक्त है। यह चित्शक्ति अनन्त रूपों में अपने को प्रकट करती है और यह प्राकट्य या प्रकाशन सामान्यतः चक्राकार या आवर्ती है; पर यह शक्ति शक्ति के रूप में किसी भी परिवर्तन को सहन नहीं करती है। यह अभिन्न शक्ति है जो इस नानात्मक जगत्-क्रम को विकसित करती है।"[34]

इसका अर्थ है कि शक्ति का अनेक वैविध्यों में प्रकट होना उसकी शक्ति की पूर्णता में कोई न्यूनता या क्षति घटित नहीं करता। यह सृजनात्मक शक्ति प्रकाशन में सदा ही अपनी ऊर्जा का प्रयोग करती है और तब भी सदा पूर्ण प्रतीत होती है :

लेलिहाना सदा देवी सदा पूर्णा च भासते।

---

30 अथर्व०, 11.4.22

31 शंकरभाष्य, बृहद् उप०, 3.9.9

32 गौडपाद०, 6

33 सर जॉन वुडरॉफ़, दि वर्ल्ड ऐज़ पावर, पृ० 261

34 सर जॉन वुडरॉफ़, दि वर्ल्ड ऐज़ पावर, पृ० 295-296

"शक्ति उस परम एक 'चैतन्य सत्ता' का कार्य है, उसकी क्रिया। इसके परिणाम चैतन्य सत्ता के रूपों के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं हैं। सत्त्व हो या भौतिक द्रव्य, ये केवल 'चैतन्य' का ही रूप हैं। 'जीवन' 'चैतन्य सत्ता' का ही कार्य है, भौतिक रूप जिसके परिणाम हैं।"[35]

जो व्यक्त है, जो सन्निहित है, जो हृदय की गुह्य कन्दरा में संचरण करता है, जो शक्तिशाली आधार है और जिसमें गतिशील, श्वसनशील, दर्शन-युक्त सब समर्पित हैं, उस वरेण्य एवं वरिष्ठ को जानो :

आविः सन्निहितं गुहाचरं नाम
महत् पदमत्रैतत् समर्पितम्।
एजत् प्राणन्निमिषच्च यदेतज्जानथ सदस-
द्वरेण्यं परं विज्ञानाद् यद् वरिष्ठं प्रजानाम्।[36]

जिसमें ये जगत् और उनके प्राणी स्थित हैं :
यस्मिँल्लोका निहिता लोकिनश्च[37]

उसका वेधन करो :
तद् वेद्धव्यम्[38]

प्राण सर्वत्र विद्यमान है।
वह संपूर्ण जगत् का जीवन है।

प्राण के अधिराज्य में ही देवता साँस लेते और जीवित रहते हैं। मनुष्य और पशु भी। क्योंकि प्राण ही सब प्राणियों का जीवन है। इसीलिए उसे सबकी 'आयुष्य' कहते हैं। जो प्राण की ब्रह्म रूप में उपासना करते हैं, वे संपूर्ण आयु अर्थात् जीवन को प्राप्त करते हैं :

प्राणं देवा अनु प्राणन्ति। मनुष्याः पशवश्च ये। प्राणो हि भूतानामायुः। तस्मात्सर्वायुषमुच्यते। सर्वमेव त आयुर्यन्ति ये प्राणं ब्रह्मोपासते।[39]

---

35 श्रीअरविन्द, दि लाइफ़ डिवाइन, वाल्यू॰ 18, पृ॰ 235
36 मुंडक उप॰, 2.2.1
37 मुंडक उप॰, 2.2.2
38 वही
39 तैति॰ उप॰, ब्रह्मा॰, 3

प्राण से समस्त वनस्पति जगत् वृद्धि को प्राप्त होता है। प्राण द्वारा सींची गयी औषधियाँ उससे कहती हैं, हे प्राण, तू हमें सुन्दर गंध से युक्त कर और हमारी आयु की वृद्धि कर :

अभिवृष्टा ओषधयः प्राणेन समवादिरन।
आयुर्वै नः प्रातीतरः सर्वा नः सुरभीरकः॥[40]

खनिज हो या पाषाण, जगत् के हर कण में प्राण की अभिव्यक्ति है, सर्वत्र प्राण की शक्ति प्रसृत है।

यह संपूर्ण जगत् और इसकी हर वस्तु प्राण में ही समर्पित है :

अस्मिन्प्राणे सर्वं समर्पितम्।[41]

यह प्राण ही है जो सर्व हो जाता है :

प्राणो ह्येवैतानि सर्वाणि भवति।[42]

"हमारी सत्ता उसी में है। हम उसी में संचरण करते और जीवित रहते हैं। जगत् स्वयं उसमें गतिशील एक प्रतिभास है।"[43]

---

40 अथर्व०, 11.4.6

41 छान्दो० उप०, 7.15.1

42 छान्दो० उप०,7.15.4

43 श्रीअरविन्द, ऐस्सेज़ ऑन दि गीता, वाल्यू० 13, पृ० 299

प्राण एवं देश-काल-निमित्त

मैं अक्षय काल हूं।

गीता[1]

मैं विश्वतोमुख हूं। सर्व ओर मेरे मुख हैं।

गीता[2]

'उससे' इस प्राण ब्रह्म की और तब नाम (काल) और रूप (देश) एवं भौतिक तत्त्व की उत्पत्ति हुई।

मुंडक[3]

अपनी सत्ता की अचिन्त्य, कालातीत और देशातीत अनन्तता में उसने असीम जगत् के इस लघु प्रतिभास को अनन्त देश और काल में विस्तृत किया है।

श्रीअरविन्द[4]

"परम सत्ता अविनाशी, अनादि, अनन्त 'काल' है। यह उसके संभवन की सर्वाधिक प्रत्यक्ष शक्ति है और संपूर्ण जगत् की गतिशीलता का सार है। **अहमेव अक्षयः कालः**। काल की गति में यह वह दिव्य शक्ति है जो गति में सर्व वस्तुओं का विधान करती है और उन्हें उनके स्थान पर रखती है। 'देश' के रूप में यह वह है जो हर दिशा में हमारे सामने है, असंख्य शरीरों में, हर अस्तित्व में प्रकट; हम उसकी मुखाकृतियों को अपने सब ओर देखते हैं। **धाताहं विश्वतोमुखः**।"[5]

वह शाश्वत काल एवं अनन्त विस्तार है।

---

1 **अहमेवाक्षयः कालः**

भगवद्गीता, 10.33

2 **धाताहं विश्वतोमुखः**।

भगवद्गीता, 10.33

3 **तस्मादेतद् ब्रह्म नाम रूपमन्नं च जायते**।

मुंडक उप०, 1.1.9

4 एस्सेज़ ऑन दि गीता, वाल्यू० 13, पृ० 298

5 एस्सेज़ ऑन दि गीता, वाल्यू० 13, पृ० 348

"'देश-काल-निमित्त' विश्व-प्रकम्पनशील ऊर्जा के ही तीन रूप एवं संकल्पन हैं। जिस प्रकार आत्मा के तीन वैशिष्ट्य हैं—सत्, चित्, आनन्द; वैसे ही भौतिक ऊर्जा अथवा प्रकृति के तीन सकारात्मक संलक्षण एवं वैशिष्ट्य हैं—देश, काल, निमित्त।

"अस्तित्व केवल गति-संचलन है, अन्य कुछ नहीं—देश में संचलन, काल में संचलन। देश में संचलन वस्तुपरक है, काल में संचलन व्यक्तिपरक।

"एक ही शक्ति अपने वस्तुपरक एवं व्यक्तिपरक विस्तार में देश एवं काल का निरीक्षण करती है।"[6]

चैतन्य-ऊर्जा का शुद्ध गति-संचलन देश एवं काल का निर्माण करता है। ये दोनों चैतन्य की विश्वव्यापी शक्ति के दो रूप हैं। इन्होंने अपनी नाम-रूपात्मकता से 'अमृत प्राण' के स्वरूप को आवृत किया हुआ है :

प्राणो वा अमृतं नामरूपे सत्यं ताभ्यामयं प्राणश्छन्नः।[7]

काल में निहित जो अनुक्रमण है, उत्तरोत्तरता, वही निमित्त (कारण-कार्य) है। इसी अनुक्रमण से भूत, वर्तमान एवं भविष्य आदि काल-क्रमों का बोध होता है।

जिस प्रकार शुद्ध चैतन्य सर्व प्राण-गतियों का आधार है, वैसे ही प्राण के अंदर काल-गति का आधार शाश्वतता है और देश के गति-संचलन का आधार अनन्त असीमता है। काल एक शाश्वत वर्तमान हो सकता है। देश एक अखंड विस्तार हो सकता है।

परार्ध में जब प्राण की गति निश्चल शांति में है तब शुद्ध आत्मिक आकाश को देखा जा सकता है, 'चिदाकाश' को, और काल को कालावधिरहित अखंडता एवं शाश्वतता के रूप में अनुभव किया जा सकता है।

प्राण की निस्पन्द स्थिरता काल की अक्षय स्थिति है। यह शाश्वत काल का अविनश्वर रूप है—'अक्षय काल', जो अपनी उत्तरोत्तरता, विस्तार तथा क्षणरूपता में भी उतना ही शाश्वत और नित्य है।

इसी प्रकार परार्ध के प्राण-स्पंदन में देश अपनी अनन्तता को सीमाबद्ध नहीं

---

6 श्रीअरविन्द, दि लाइफ़ डिवाइन, वाल्यू॰ 18, पृ॰ 76-77, 133-134

7 बृहद॰ उप॰, 1.6.3

करता एवं समय को अनन्तता से पृथक् अनुभव नहीं करता, बल्कि यह वहाँ अपनी असीमता का ही दर्शन करता है। देश के रूप में यह 'विश्वतोमुख' अनन्तता ही है—सर्वत्र, सर्वत्र व्याप्त, जिसकी प्रतीति होती है।

शाश्वतता में काल की खंडता का अनुभव
अनन्तता में देश की सीमाओं का आकलन
केवल एक मानसिक संकल्पना है।

काल में निहित शाश्वतता वर्तमान को स्थित रखनेवाला तत्त्व है, यह भूतकाल का प्रत्याहारी तथा भविष्य का स्रष्टा तत्त्व है।

शुद्ध काल एवं
क्षणों के खंडित अंश

एक ही शक्ति की दो गतियाँ हैं। एक में काल का शुद्ध अनुभव है, दूसरी में उसका विभाजित प्रतिभास।

यह प्राण का ही स्पन्दन है जो देश एवं काल की गतियों को निर्धारित करता है।

प्राण एक ऐसी ब्रह्मांडीय गति है जो देश, काल, निमित्त की अवधारणात्मक गतियों का आविर्भाव प्रस्तुत करती है।

प्राण-गति के अंदर देश, काल, निमित्त की अवधारणा को समझने का अर्थ है, तात्त्विक गति के अंदर आकार ले रही अन्य गतियों का विश्लेषण।

प्राण की शाश्वत गति के अंदर ही देश, काल एवं निमित्त का अस्तित्व है, स्वयं में ये कुछ नहीं हैं।

"प्राण-गति की असंख्यकता अनन्त क्षोभों को जन्म देती है। यह एक ऐसी अनन्त जटिलता है जो अनन्त परिवर्तनों को आविर्भूत करती है। सर्वत्र कोई चीज़ व्यक्त और विकसित हो रही है, कोई चीज़ क्षय और विघटन को प्राप्त हो रही है। ...'काल' के समुद्र में हर बुलबुला एक क्षोभ है, एक परिवर्तन, 'देश' के समकालिक सागर में कितना भी क्षुद्र क्यों न हो। ...असीम और अनाद्यन्त 'निमित्त' अपनी सतत चल रही क्रिया की निरन्तरता से रुक नहीं सकता—अनन्त क्रियाएँ जो दूसरी क्रियाओं का कारण हैं, कारण जो दूसरे कारणों का कार्य हैं। ...यह एक अनन्त शृंखला है जो देश एवं काल के अंदर संचरणशील है, जो 'सत्त्व' के भीतर कार्य कर रही है और एक शाश्वत तथा अखंडनीय ऊर्जा के द्वारा गढ़ी जा रही है। ...इस शाश्वत गति एवं परिवर्तनीयता का अर्थ है अपरिहार्य रूप से एक अनन्त बहुलता, अनेकात्मक विविधता। 'देश' का छोटे-से-छोटा भाग चर

और अचर सत्ताओं की अनन्त विविधता से एवं गति और क्रिया के असंख्य प्रकारों से ठसाठस भरा हुआ है। . . . यदि यह गति न रहे, प्राण का प्रकम्पन . . . तो सब समाप्त हो जायेगा, सब कुछ अनस्तित्व में बदल जायेगा।"[8]

जो कालातीत में अव्यक्त, अन्तर्निहित एवं सारभूत है, वह काल में गति के रूप में प्रकट होता है।

"काल एवं कालातीत अपनी द्विविध स्थिति में शाश्वतता ही हैं। एक शाश्वतता निश्चल स्थिति का रूप है, दूसरी में चल स्थिति की प्रतीति है।"[9]

व्यक्तिक गति एवं जगत् की गति काल-गति की उत्तरोत्तरता में ही निरंतर अग्रसर हो रही है।

हम और यह जगत् गति हैं। यह गति वर्तमान में भूतकाल के सभी अनुक्रमणों के साथ निरन्तर विकसित और वर्धित होती है और भविष्य के समस्त अनुक्रमणों के आरंभ के रूप में स्वयं को प्रस्तुत करती है। आरंभ या वर्तमान सदा ही हमसे बच निकलता है, वह है ही नहीं, क्योंकि वह जन्म ले, इससे पहले ही नष्ट हो जाता है। जो है, वह है 'काल' की शाश्वत, अविच्छिन्न उत्तरोत्तरता। यह 'काल' है जो अपने प्रवाह पर चैतन्य के अविच्छिन्न प्रगतिमान् संचलन को धारण करता है।[10]

"गति की समग्रता में यह अनुक्रमण अविभक्त एवं अखंड है। 'काल' या 'चेतना' का हर क्षण इसकी उत्तरोत्तरता के कारण पृथक् समझा जा सकता है, ऊर्जा का हर उत्तरोत्तर कार्य एक नयी प्रमात्रा या एक नयी रचना माना जा सकता है; पर यह सातत्य का निराकरण नहीं करता, क्योंकि इसके बिना काल की कोई अवधि या चेतना की कोई सुसंगति नहीं रहेगी। एक मनुष्य के कदम, जब वह चलता है या दौड़ता है या कूदता है, अलग होते हैं, पर वहाँ कोई है जो कदम लेता है और गति को सातत्य, एक निरन्तरता बनाता है।"[11]

"यह शुद्ध सत्ता है, शाश्वत, अनन्त, अपरिभाष्य, 'काल' के अनुक्रमण से अप्रभावित, 'देश' के विस्तार में अनावेष्टित, रूप-गुण-परिमाण से परे,—केवल 'स्वयं' और परम।

---

8 श्रीअरविन्द सप्लिमेंट, वाल्यू० 27, पृ० 243-244

9 श्रीअरविन्द, दि लाइफ़ डिवाइन, वाल्यू० 18, पृ० 359-360

10 श्रीअरविन्द, दि लाइफ़ डिवाइन, वाल्यू० 18, पृ० 77

11 वही, पाद-टिप्पणी

"जिस प्रकार यह सत्य है, उसी प्रकार गति भी सत्य है, ऊर्जा भी सत्य है।"[12]

"हर वस्तु अपने मूल में एक तत्त्व है। देश, काल, निमित्त अपने मूल में तात्त्विक त्रियेक हैं जो देश, काल, निमित्त की वास्तविकता या इनके प्रतिभास को प्रकट करते हैं। इन्हीं तीन से गति, परिवर्तनशीलता एवं बहुलता की स्थिति बनती है।...और यह सब एक शब्द में 'ऊर्जा' है—प्राण-शक्ति, उसकी गति।"[13]

हम देश-काल की गति को केवल खंडों में, खंडांशों में पकड़ पाते हैं। टुकड़ों में बँटा हुआ अनन्त विस्तार। क्षणों-संवत्सरों में विभक्त शाश्वत काल। जब कि ये युगपत् एवं सम्पाती गतियाँ हैं।

यह प्राण-गति है जिसका एक संचलन देश बनता है, दूसरा काल, तीसरा निमित्त—और ये सब एक-दूसरे के अंदर हैं। इनमें न केवल सापेक्ष बल्कि अविनाभावी संबंध है। ये समक्षणिक एवं युगपत् हैं—अनुक्रमण में भी। प्राण की मूल तात्त्विकता में ये तत्त्व हैं, प्राण की अभिव्यक्तिशील गति में प्रतिभास।

देश-काल की गतियों में आकलित यह नाम-रूपात्मक जगत् प्राण में प्रतिष्ठित है।

प्राण ही आयतन है :

प्राण एव आयतनम्[14]

देश, काल, निमित्त विभाजन एवं विभिन्नता के कर्ता हैं और इस वस्तुजगत् के मूल बन्ध हैं। इन तीनों में काल की सर्वोपरिता स्पष्ट है क्योंकि उसमें गति का आकलन अधिक व्यक्त है :

...कालः कलयताम्...[15]

काल का अनुक्रमण,—उत्तरोत्तरता ही कार्य-कारण की शृंखला है, निमित्त की बहुलता है।

"देश, काल, निमित्त प्रत्यक्ष बोध को दिये गये नाम हैं। इनका कोई अर्थ नहीं है सिवा इसके कि ये एक बिन्दु से दूसरे बिन्दु, एक क्षण से दूसरे क्षण तथा

---

12 श्रीअरविन्द, दि लाइफ़ डिवाइन, वाल्यू॰ 18, पृ॰ 77-78

13 श्रीअरविन्द, सप्लिमेंट, वाल्यू॰ 27, पृ॰ 253

14 बृहद्॰ उप॰, 4.1.3

15 भगवद्गीता, 10.30

एक स्थिति या घटना से दूसरी स्थिति या घटना तक हो रही गति एवं अनुक्रमिकता को प्रकट करते हैं। इन तीन महान् प्रतीकों में ईश्वर की रचनात्मक क्रिया के अनुक्रम एवं परिवर्तन का नियम विद्यमान है।"[16]

क्रिया अथवा गति प्राण है। .

प्राण एवं काल के संयोजन, सान्निध्य एवं एकत्व पर एक छोटा-सा आरेखन यहाँ संदर्भ-संगत होगा। प्राण एवं काल एक-दूसरे के अनुरूप, समान रूप से समर्थ एवं शक्तिशाली हैं :

कालः प्राणश्च भगवान्[17]

प्राण में ही काल के समस्त आविर्भाव हैं, उदय-अस्त आदि।

प्राण में ही सूर्य उदित होता है और प्राण में ही अस्त होता है :

प्राणाद्वा एष उदेति प्राणेऽस्तमेति[18]

प्राण ही आज है और प्राण ही कल :

स एवाद्य स उ श्व[19]

वही भूतकाल का और वही भविष्य का ईश्वर है। वह ही आज है, और वही कल होगा :

ईशानो भूतभव्यस्य स एवाद्य स उ श्वः।[20]

काल की तीनों अवधारणाएँ प्राण के अंदर हैं :

स भूतो भव्यं भविष्यत्[21]

तथा

प्राणो ह भूतं भव्यं च[22]

समस्त लोक प्राण की शक्ति एवं गति के कारण अपनी धुरी पर रहकर

---

16 श्रीअरविन्द, सप्लिमेंट, वाल्यू० 27, पृ० 333

17 चूलिका उप०, 12

18 बृहद्० उप०, 1.5.23

19 वही

20 कठ उप०, 2.1.13

21 अथर्व०, 11.4.20

22 अथर्व०, 11.4.15

संचरण करते हैं। प्राण से नियंत्रित लोकों की गति ही काल को दिन, रात, पक्ष, माह, संवत्सर आदि में विभक्त करती है।

प्राण की स्थिति एवं गति के अंदर ही काल की गति का बोध रहता है। यदि प्राण रूपी हंस जल से अपना स्थिति रूप पैर बाहर निकाल ले तो न आज रहेगा न कल, न दिन, न रात, प्रकाश-अंधकार कुछ भी नहीं :

एकं पादं नोत्खिदति सलिलाद्धंस उच्चरन्।
यदङ्ग स तमुत्खिदेन्नैवाद्य न श्वः स्यान्न रात्री नाहः स्यान्न व्युच्छेत् कदाचन॥[23]

प्राण के कालात्मक बोध को इस रूप में अनुभव किया जा सकता है कि वह जीवन भी है और मृत्यु भी :

प्राणो मृत्युः प्राणस्तक्मा . . .[24]

भूत, वर्तमान एवं भविष्य—काल के इन तीनों पक्षों एवं जन्म, जीवन, मृत्यु—काल के इन तीनों अवस्थानों में प्राण गतिशील है। पर काल के इन क्रमों से परे भी प्राण है क्योंकि वह सृष्टि से पहले और विलय के बाद भी रहता है :

. . . प्र पुरो नि पश्चा।[25]

प्राण हंस है। इसके दोनों पंखों की गति अनन्त देश-काल को व्याप्त करती है और यह सारे लोकों को देखता हुआ संचरण करता है :

. . . संपश्यन् याति भुवनानि विश्वा।[26]

---

23 अथर्व० 11.4.21
24 अथर्व०, 11.4.11
25 अथर्व०, 11.4.22
26 अथर्व०, 10.8.18

मातरिश्वा प्राण

'उसमें' मातरिश्वा जलों को प्रस्थापित करता है।

ईश[1]

हे मातरिश्वा, तुम हमारे पिता हो।

प्रश्न[2]

मातरिश्वा को प्राण कहते हैं और वायु ही प्राण है।

अथर्व॰[3]

"वायु मातरिश्वा, महान् प्राण-तत्त्व है, जो मातृतत्त्व (आकाश) में अनन्त रूप से विस्तृत होता है, साँस लेता है और संचरण करता है। जगत् में हर वस्तु इसी शक्तिशाली प्राण का गति-संचलन है। यह वह है जो अग्नि को लाया और जिसने उसे सर्व सत्ता में गुह्य रूप से स्थित किया। उसके लिए भुवनों का निर्माण हुआ है कि प्राण इनमें संचरण कर सके, कि वह इनमें क्रियाशील हो सके।"[4]

मातरिश्वा वैदिक वायुदेव का विशिष्टतावाचक नाम है, जो दिव्य प्राणतत्त्व का प्रतिनिधित्व करता है और महाभौतिक तत्त्व में विस्तृत होकर इसके रूपों को प्राणवन्त करता है।

वेद एवं उपनिषदों में मातरिश्वा एवं वायु प्राण के ही परिचायक हैं :

प्राणमाहुर्मातरिश्वानं वातो ह प्राण उच्यते।[5]

वायुर्वा मातरिश्वा वा[6]

---

1 **तस्मिन्नपः मातरिश्वा दधाति।**

ईश उप॰, 4

2 **पिता त्वं मातरिश्व नः।**

प्रश्न उप॰, 2.11

3 **प्राणमाहुर्मातरिश्वानं वातो ह प्राण उच्यते।**

अथर्व, 11.4.15

4 श्रीअरविन्द, दि उपनिषद्स्, वाल्यू॰ 12, पृ॰ 218

5 अथर्व, 11.4.15

6 केन उप॰, 3.8

'मातरिश्वा' शब्द का अर्थ है जो माता में संचरण करता है अथवा स्वयं को विस्तृत करता है, **मातरि + श्वयति**।

वेद में इसी का समानार्थक एक और शब्द मिलता है—**पृश्निमातरः**। यह शब्द मरुतों के लिए प्रयुक्त हुआ है जो बहुवचन में प्राणसंज्ञक हैं।

मंत्र है :

विश्वान्देवान्हवामहे मरुतः सोमपीतये।
उग्रा हि पृश्निमातरः।[7]

हम सोमपान के लिए विश्वदेव मरुतों का आवाहन करते हैं। आकाश जिनकी माता है, वे मरुत् उग्र एवं प्रचंड हैं।

'पृश्निः' आकाश है—**आकाशं अन्तरिक्षम्**।

इस प्रकार 'मातरिश्वा' शब्द में निहित माता शब्द आकाश एवं अंतरिक्ष का सूचक है, जहाँ प्राण स्वयं को विस्तृत करता है।

"मातरिश्वा ब्रह्मन् की ऊर्जा-शक्ति है, जो गर्भ में अथवा माता में प्रवेश करती है, पहले वहाँ गुप्त रहती है, जैसे बच्चा गर्भ में रहता है और तब आकाश का प्रतिनिधित्व करनेवाले विस्तार की स्थैतिक स्थिति से बाहर प्रकट हो जाती है। यह ऊर्जा 'विस्तार एवं संकोचन' के गतिशील तत्त्व के रूप में प्रकट होती है, वायु के रूप में, जो आकाश के आत्मनिहित स्पन्दन (शब्द) के द्वारा कम्पनशील तरंगों को उत्पन्न करता है, क्रिया एवं प्रतिक्रिया को जन्म देता है। . . . मातरिश्वा स्वयं को वायु के साथ तदाकार करके क्षोभ-कम्पों, क्रिया-प्रतिक्रियाओं एवं संस्पर्श के इन तत्त्वों को अपना आधार बनाकर न केवल भौतिक तत्त्व का शासन करता है बल्कि दूसरे तीन तत्त्वों—अग्नि, जल एवं पृथिवी तत्त्व के प्रयोग से प्राण (शरीर का एक स्तर) एवं मन का अधिपतित्व भी करता है . . . ।"[8]

यह मातरिश्वा भूततत्त्व वायु नहीं है, बल्कि वायु, इस पार्थिव पृथ्वी के लिए उपयुक्त, मातरिश्वा का ही एक प्रकटन है, अनेक वास-स्थलों में एक वास-स्थल, जिसमें वह रहता है।

---

7 ऋग्०, 1.23.10

8 श्रीअरविन्द, सप्लिमेंट, वाल्यू० 27, पृ० 334-335

फिर भी यह वायु है, जैसे अन्य सब कुछ भी है—अग्नि, सूर्य, मेघ, इन्द्र, पृथिवी, रवि, सद्-असद्, अमृत आदि :

एषोऽग्निस्तपत्येष सूर्य एष पर्जन्यो मघवानेष वायुः।
एष पृथिवी रयिर्देवः सदसच्चामृतं च यत्॥[9]

अपने तेज और ओज में यह इन्द्र है . . . और सुरक्षित रखने के कारण रुद्र है। यह अन्तरिक्ष में संचरणशील ज्योतियों का अधीश्वर सूर्य है :

इन्द्रस्त्वं प्राण तेजसा रुद्रोऽसि परिरक्षिता।
त्वमन्तरिक्षे चरसि सूर्यस्त्वं ज्योतिषां पतिः॥[10]

प्राण अपने प्राकट्य में समस्त भौतिक एवं दिव्य आविर्भावों का प्रणेता है। इस विश्व में एवं स्वर्गिक लोकों में जो कुछ भी स्थित है, वह प्राण के अधीन है।

इससे माता के समान रक्षा की प्रार्थना की गयी है :

मातेव पुत्रान् रक्षस्व[11]

यह दिव्य प्राण-तत्त्व ही मातरिश्वा है, चैतन्य के अव्यक्त आकाश-गर्भ में संचरणशील और तब उसी सारूप्य के साथ उत्पन्न :

प्रजापतिश्चरसि गर्भे त्वमेव प्रतिजायसे।[12]

वस्तुतः 'गर्भ' हर वस्तु में विद्यमान है। यह उसकी गोपनीयता है, अन्तः-प्रच्छन्नता, जहाँ यह प्राण संचरण करता है, उस वस्तु का देवता :

अन्तर्गर्भश्चरति देवता . . .[13]

एक अन्य अर्थ में जो कुछ भी गर्भ के अंदर विद्यमान है, प्राण उसे अपने संचार-स्पर्श से पुनर्जन्म प्रदान करता है। यह जीवन का बहिर्निष्क्रमण है, प्राकट्य :

अपानती प्राणति पुरुषो गर्भे अन्तरा।
यदा त्व प्राण जिन्वस्यथ स जायते पुनः॥[14]

---

9 प्रश्न उप०, 2.5
10 प्रश्न उप०, 2.9
11 प्रश्न उप०, 2.13
12 प्रश्न उप०, 2.7
13 अथर्व०, 11.4.20
14 अथर्व०, 11.4.14

यह अविद्यमान वस्तुओं का जन्म नहीं है, बल्कि उन चीजों का प्रकटीकरण है जो अन्तर्निहित एवं अव्यक्त थीं।

यह अव्यक्त महोदधि में डूबे हुए विश्व का उन्मीलन एवं प्रकटीकरण है।

"भौतिक जगत् को इसीलिए श्रुति में जलों से उत्पन्न कहा गया है, क्योंकि जब तक यह जल-स्थिति से बाहर प्रकट नहीं होता, तब तक ब्रह्मांड जैसा कुछ नहीं है।"[15]

प्राणवाचक सभी शब्द एवं नाम मातरिश्वा, वायुदेव, मरुत् अथवा मरुत्गण आदि—गति, वेग, विस्तार, शक्ति एवं क्रिया के परिचायक हैं, कर्तृत्व एवं क्रिया-शक्ति के।

प्राण 'सद्' अर्थात् स्थैतिक ब्रह्मन् की अनन्त गतिशीलता है। यह स्थैतिक विस्तार ही है जहाँ मातरिश्वा प्राण अपने गति-कम्पनों को वर्धित करता है।

मातरिश्वा के नित्य एवं निरन्तर प्रसरणशील कम्पन के भीतर यह जगत् है। कॉस्मिक क्रिया के हर रूप-आविर्भाव का यही अधीश्वर है—हर सत्ता का स्वामी :

विश्वस्य सत्पतिः[16]

यह मातरिश्वा सबका पिता है :

पिता त्वं मातरिश्व नः[17]

मातरिश्वा अथवा प्राण में संपूर्ण जगत् का पितृत्व सिद्ध ही है :

सर्वस्यैव जगतः पितृत्वं सिद्धम्।[18]

ये सारे लोक, जो इसी का निर्माण हैं, इसके निवास के असंख्य घर हैं।

मातरिश्वा के रूप में प्राण-तत्त्व के वैशिष्ट्य की समग्रता तब व्यक्त होती है, जब उपनिषद् का एक श्लोकांश यह सत्य उद्घाटित करता है कि यह मातरिश्वा है जो उस स्थैतिक ब्रह्मन् में 'अपः' अर्थात् जलों को प्रतिष्ठित करता है :

तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति।[19]

---

15 श्रीअरविन्द, दि उपनिषद्स्, वाल्यू० 12, पृ० 473

16 प्रश्न उप०, 2.11

17 वही

18 शंकरभाष्य, प्रश्न उप० 2.11

19 ईश उप०, 4

'अपः' शब्द वैदिक सप्तसिन्धु या समुद्र एवं सप्त ब्रह्मांडीय तत्त्वों या लोकों और उनकी क्रियाओं को प्रतीकात्मक रूप से प्रकट करता है।

'अपः' सप्त भूमियाँ भी हैं, चैतन्य के सात स्तर, सात तत्त्व, पृथक् रूप से क्रियाशील सात लोक,

प्राण जिनमें संचरण करता है, अपने तद्रूप विविध कम्पनों में, अपनी बहुवचनीयता में :

सप्त इमे लोका येषु चरन्ति प्राणाः[20]

मातरिश्वा स्थैतिक ब्रह्मन् (**तिष्ठत्**[21]) में गतिशील ब्रह्मन् की क्रियाशीलता है, उस एक 'स्थित' ब्रह्मन् में '**क्षिप्रधन्वा**'[22] की गति।

"अनन्त रूप से स्थिर एवं अनन्त रूप से गतिशील यह ब्रह्मन् ही है जिसमें मातरिश्वा प्राण, 'जीवन' का शक्तिशाली तत्त्व, वस्तुओं का महास्पन्दन, रूपों एवं घनाकृतियों को, एकत्व एवं अविभेद की स्थिति से निकालकर सुव्यवस्थित करता है।"[23]

"मातरिश्वा आकाश से उद्‌भूत होकर आकाश में क्रियाशील होता है, पर आकाश स्वयं केवल एक अन्तर्वर्ती क्रिया है; वास्तविकता यह है कि मातरिश्वा ब्रह्मन्, आत्मा से उत्पन्न होता है और ब्रह्मन्, आत्मा में ही कार्य करता है।"[24]

"यह ब्रह्मांड-गति का स्रष्टा एवं संचालक है।"[25]

"यह अनन्त रूप से 'माता' में विस्तृत होता है। जगत् की सर्व वस्तुएँ इसी शक्तिशाली तत्त्व का गति-कम्पन हैं।"[26]

'अपः' ब्रह्मांडीय क्रिया है बहुवचन में—**कर्माणि**।[27]

"इस चैतन्यस्वरूप आत्मतत्त्व में अन्तरिक्ष में गमनशील मातरिश्वा वायु

---

20 मुंडक उप०, 2.1.8

21 ईश उप०, 4

22 अथर्व०, 11.4.23

23 श्रीअरविन्द, सप्लिमेंट, वाल्यू० 27, पृ० 209

24 श्रीअरविन्द, सप्लिमेंट, वाल्यू० 27, पृ० 241

25 श्रीअरविन्द, दि लाइफ़ डिवाइन, वाल्यू० 18, पृ० 207

26 श्रीअरविन्द, दि उपनिषद्स, वाल्यू० 12, पृ० 218

27 शंकरभाष्य, ईश उप०, 4

सबकी क्रियाओं का आधार है। इसकी क्रिया सबके जीवन की धारक है। समस्त कार्य एवं कारण इसी पर निर्भर करते हैं और इसी में अन्तर्निष्ठ हैं। समस्त भुवनों को स्वयं में पिरोनेवाला यह सूत्रात्मा मातरिश्वा है।[28]

यह वह मातरिश्वा है जो अग्नि, आदित्य, पर्जन्य के ज्वलन-दहन, प्रकाश, वर्षा आदि लक्षणों को नियत करता है और जिसके भय से अग्नि जलती है, सूर्य ताप देता है और इन्द्र, वायु एवं मृत्यु दौड़ते हैं :

भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः।
भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः॥[29]

मातरिश्वा उत्पादक एवं सर्जनात्मक क्रिया का प्राकट्य है। सूर्य-नक्षत्रों की गति, वृक्ष का विकास, जलों के प्रवाह, यह अपने असंख्यक बाहुल्य में जीवन का अग्रगमन है।

"मातरिश्वा ब्रह्मन् की शक्ति है, नहीं, स्वयं ब्रह्मन् है, जो जलों (अपः) को स्वयं में स्वस्थान पर रखता है।':[30]

शैव-दर्शन का यह सूत्र :

स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति।[31]

'चिति अपनी इच्छा से अपनी ही भित्ति पर विश्व का उन्मीलन करती है'— गतिशील विश्व के परोक्ष में विद्यमान स्थिर आधार का निर्देश करता है। 'भित्ति' चैतन्यशक्ति का निश्चल पट्ट है, जहाँ विश्व का प्राकट्य घटित होता है। स्थिति ही विश्व के समस्त गति-संचलनों को वहन करती है। यह संसार की उच्छल धाराओं की अविचल पीठिका है।

यह ब्रह्मन् की 'देह' है, चैतन्य का निस्पन्द शांत रूप, स्वयं मातरिश्वा का अचल पृष्ठ, जहाँ वह लोकों को, अपने गति-संचलनों को अभिव्यक्त करता है।

---

28 तस्मिन्नात्मतत्त्वे सति नित्यचैतन्यस्वभावे, मातरिश्वा मातर्यन्तरिक्षे श्वयति गच्छतीति मातरिश्वा वायुः सर्वप्राणभृत्क्रियात्मको यदाश्रयाणि कार्यकारणजातानि यस्मिन्नोतानि प्रोतानि च यत्सूत्रसंज्ञकं सर्वस्य जगतो विधारयितृ स मातरिश्वा।

शंकरभाष्य, ईश उप० 4

29 कठ उप०, 2.3.3

30 श्रीअरविन्द, दि उपनिषद्स, वाल्यू० 12, पृ० 472

31 प्रत्यभिज्ञा०, 2

"मातरिश्वा अत्यंत द्रुतगामी एवं शक्तिशाली है। अन्तरिक्ष में स्थित यह शूर अपनी तेजोमयी शक्ति से एवं तेजस्वी मरुतों से युक्त होकर कार्य करता है।"[32]

यह शुद्ध चैतन्य की शुद्ध ऊर्जा है जो अनन्त रूप से प्रसरणशील है।

मातरिश्वा वायु अथवा प्राण की दार्शनिक अभिव्यंजना है।

"इसका सर्वप्रमुख संलक्षण गति है और गति का यह वैशिष्ट्य अपने उद्गम स्थल आकाश में क्रिया करता है। आकाश में संचरण करते हुए, विकास एवं संयोजन करते हुए यह तत्त्वों का सृजन करता है जिनसे सूर्य, नक्षत्रपथ एवं ग्रह निर्मित हुए हैं। यह अग्नि, जल और वायुमंडल, पृथिवी, पाषाण और धातु, वनस्पति, मत्स्य, पशु एवं पक्षी सबको विकसित एवं उत्पन्न करता है। आकाश में संचरण करते हुए यह अपनी ऊर्जा से उन समस्त अनन्त रूपों की प्रकृति, गति, शक्ति एवं क्रिया का निर्धारण करता है, जिन्हें इसने उत्पन्न किया है। इस तत्त्व के संयोजन एवं कार्य से सूर्य निर्मित हुआ, अग्नि प्रकट हुई, पर्जन्यों को रूप मिला, एक पिघला हुआ गोला ठंडा होकर पृथ्वी के रूप में ठोस हो गया। इस तत्त्व की ऊर्जा से सूर्य प्रकाश एवं ताप देता है, अग्नि जलती है, बादल बरसते हैं, पृथ्वी घूमती है। न केवल चेतन, बल्कि समस्त अचेतन सत्ता का जीवन एवं नाना क्रिया का बाहुल्य भी मातरिश्वा एवं इसकी ऊर्जा के कारण हैं।"[33]

'मातरिश्वा' प्राण-तत्त्व की विशिष्ट व्याख्या है—इसके ही रूप का एक विशद विश्लेषण।

वायु एवं मरुत् भी प्राण का ही अभिधान हैं। शास्त्रों में प्राप्त इन तत्त्वों के पृथक् अध्ययन से प्राण-तत्त्व का व्यापक, स्वरूपगत वैशिष्ट्य कुछ अधिक स्पष्टता ग्रहण कर सकेगा।

---

32 ऋग्०, 8.52.2; 10.105.6

33 श्रीअरविन्द, सप्लिमेंट, वाल्यू० 27, पृ० 239-240

प्राण,
वायु एवं मरुत्

प्राण ही वायु है।

मैत्री[1]

वायु को ही प्राण कहा जाता है।

अथर्व॰[2]

हे वायु, तुम अपने प्रकाशमय चन्द्र-रथ से आओ।

ऋग्॰[3]

मरुत्गण हम पर सौम्य-सदय हों।

ऋग्॰[4]

वेद एवं उपनिषदों में मातरिश्वा की भाँति ही वायु एवं मरुत् का व्यापक उल्लेख मिलता है। ये तीनों देव-शक्तियाँ व्यापक एवं सीमित अर्थ में भी प्राण-शक्ति की ही पर्याय हैं और इनका पृथक् निरूपण प्राण का ही विशद विश्लेषण एवं अध्ययन है।

प्राण अपने स्वरूप एवं संलक्षण में वायु ही है :

प्राणो वै वायुः[5]

इन दोनों का एकत्व सर्वत्र स्वीकार किया गया है :

---

1 प्राणो वै वायुः

मैत्री उप॰, 6.33

2 वातो ह प्राण उच्यते

अथर्व॰ 11.4.15

3 वायवा चन्द्रेण रथेन याहि

ऋग्॰, 4.48.1-4

4 सुतासो नो मरुतो मृळयन्तु

ऋग्॰, 1.171.3

5 मैत्री उप॰, 6.33

योऽयं प्राणः स वायुः[6]

वातो ह प्राण उच्यते[7]

प्राणो वायुः प्रकीर्त्तितः।[8]
आदि।

जो अंदर प्राण है, वही बाहर वायु है अथवा प्राण का ही एक समानधर्मा आविर्भाव वायु है :

प्राणाद्वायुरजायत।[9]

जिस प्रकार शरीर की वाक्, चक्षु आदि देव-शक्तियों में प्राण का मुख्य स्थान है, वैसे ही विश्व की सूर्य-चन्द्र-अग्नि आदि देव-शक्तियों में वायु का मुख्य स्थान है—

यथैषां प्राणानां मध्यमः प्राण एवमेतासां देवतानां वायुः[10]

वायु प्राण की ही भाँति, प्राण के ही अर्थ में, अमृत तत्त्व है—

वायुरनिलममृतमथेदम् . . .[11]

पंचभूतों में यह अमूर्त एवं अशरीरी तत्त्व है :

अशरीरो वायुः[12]

अपने स्वरूपगत दिव्य वैशिष्ट्य के कारण, अन्य देवताओं के ह्रास को प्राप्त होने पर भी, वायु ह्रास को प्राप्त नहीं होता :

निम्लोचन्ति ह्यन्या देवता न वायुः[13]

वायु कभी न अस्त होनेवाला देवता है :

---

6 बृहद्० उप०, 3.1.5
7 अथर्व०, 11.4.15
8 अमृतबिन्दु उप०, 36
9 अथर्व०, 19.6.7
10 बृहद्० उप०, 1.5.22
11 ईश उप०, 17
12 छान्दो० उप०, 8.12.2
13 बृहद्० उप०, 1.5.22

सैषाऽनस्तमिता देवता यद्वायुः।[14]

प्राण का मुख्य संलक्षण गति है, संचलन। वायु का भी मुख्य संलक्षण संचरणशीलता है :

यत्सञ्चरति स वायुः।[15]

यह शक्तिशाली वायु सर्वत्र गमनशील है :

वायुः सर्वत्रगो महान्।[16]

सम्पूर्ण विश्व वायु है—

विश्वं वायुः[17]

और यह प्राण भी विश्वरूप है—

विश्वरूपः प्राणः[18]

वस्तुतः यह वायु ही उस ब्रह्मन् का प्राण है—

वायुः प्राणः[19]

"वायु जीवन का अधिपति है। प्राचीन ऋषियों ने जीवन अथवा प्राण को एक ऐसी शक्ति के रूप में स्वीकार किया है जो संपूर्ण भौतिक सत्ता को व्याप्त किये हुए है और इसकी क्रियाओं का आधार है। प्राण विश्व का जीवन है। मनुष्य की संपूर्ण प्राणिक एवं स्नायविक क्रियाएँ प्राण की परिभाषा के अन्तर्गत हैं, प्राण के निश्चयन के अंदर और वायु के आधिपत्य के साथ संयुक्त हैं।"[20]

वायु को सम्बोधित ऋचा में ऋषि का आवाहन है,

"हे वायु, तुम अपने सौ देदीप्यमान अश्वों, या सहस्रों अश्वों से जुते रथ को ऊर्जा के विशाल भंडार में ले आओ :

---

14 बृहद० उप०, 1.5.22

15 गर्भ उप०, 1

16 भगवद्गीता, 9.6

17 अथर्व०, 9.7.4

18 प्रश्न उप०, 1.7

19 मुंडक उप०, 2.1.4

20 श्रीअरविन्द, दि सीक्रेट ऑफ दि वेद, वाल्यू०, 10, पृ० 297

वायो शतं हरीणां युवस्व पोष्याणाम्।
उत वा ते सहस्रिणो रथ आ यातु पाजसा॥[21]

वायु गमनशील तत्त्व है। इसकी गति निरन्तर प्रकाशमय एवं वर्धनशील है। यह अपनी अन्तःगर्भित ऊर्जा में शक्ति का पुंज है। रथ ऊर्जा की गत्यात्मकता का प्रतीक है और उस गति का भी जो सुखद एवं प्रकाशमय है :
वायवा चन्द्रेण रथेन याहि[22]

यह वायु है—प्राण-शक्ति, जो गुप्त ऊर्जाओं का प्रकाशन करती है और उन्हें तम की प्रच्छन्नता से निकालकर ज्योतिर्मयता में ले आती है।

वायु एवं आकाश का अविनाभावी सम्बन्ध है, मानों वायु ही आकाश है—
वायुराकाशः।[23]

यह वायु का आयतन है—
वायोरायतनम्।[24]

वस्तुतः आकाश आत्मा है, आकाशात्मा (चिदाकाश) जहाँ प्राण नित्य निवास करता है।
प्राण आयतन और आकाश प्रतिष्ठा है—
प्राण एवायतनं आकाशः प्रतिष्ठा[25]

अन्यत्र प्राण की ऊर्ध्वगति उदान को वायु एवं आकाश कहकर सम्बोधित किया गया है :
स उदानः स वायुः स आकाशः[26]

आकाश एवं वायु व्याप्य एवं व्यापक अर्थ में, तत्त्वगत रूप में एवं दार्शनिक अर्थ में भी अभिन्न हैं :

---

21 ऋग्०, 4.48.5
22 ऋग्०, 4.48.1-4
23 नारायण उप०, 15
24 क्षुरिक उप०, 7
25 बृहद्० उप०, 4.1.3
26 छान्दो० उप०, 3.13.5

भुव इति वायुः।[27]
भुव इत्यन्तरिक्षम्।[28]

वायु की ही भाँति अन्तरिक्ष भी अमूर्त है। अमर, अनन्त और सबसे परे है :
अथामूर्तं वायुश्चान्तरिक्षं चैतदमृतमेतद्यदेतत्त्यत् . . .[29]

यह वायु का घर है।[30]

वायु अन्तरिक्ष को चहुँ ओर से व्याप्त करता है :
. . . अन्तरिक्षं पर्येको बभूव।[31]

प्राणवाचक 'मातरिश्वा' शब्द के अध्ययन में हमने देखा कि यह आकाश उदर है (**अन्तरिक्षमुदरम्**[32])—गर्भ, जिसमें प्राण 'बीज' रूप में पहले ही से विद्यमान है—। यह प्राण का बहिर्गत संचरण है जो विस्तृत और व्यापक होकर पूरी सष्टि का कारण बनता है।

यह प्राणरूप वायु अन्तरिक्ष से निःसृत हुआ रस है :
वायुमन्तरिक्षात् . . .[33]

आकाश अथवा अन्तरिक्ष को ब्रह्मांड भी कहा गया है, व्याप्ति रूप होने के कारण—**स्वव्याप्तिरूपे ब्रह्माण्डे।**[34]

अन्तरिक्ष ज्योति का लोक है :
अन्तरिक्षं मरीचयः[35]

अन्तरिक्ष को यम का लोक भी कहा गया है, क्योंकि यम वायु ही है :

---

27 तैत्ति० उप०, शिक्षा०, 5
28 वही
29 बृहद्० उप०, 2.3.3
30 छान्दो० उप०, 2.24.9; मैत्री उप०, 6.35
31 अथर्व०, 10.8.36
32 बृहद्० उप०, 1.2.3
33 छान्दो० उप०, 2.24.9
34 दयानन्दभाष्य, ऋग्०, 1.35.11
35 ऐत० उप०, 1.1.2

अयं वै यमः योऽयं (वायुः) पवते।[36]

यमस्य भुवने अर्थात् नियन्तु वायोः अन्तरिक्षे[37]

यह वायु ही है जो आकाश में ऊपर उन्नत है :
. . . वायुर्नभ उच्छ्रितम्[38]

वायु को प्राण की ही भाँति ऊर्ध्वगमनशील एवं नीचे की ओर संचरणशील कहा गया है :
याति देवः प्रवता यात्युद्वता . . .[39]

वायु का कार्य है आच्छादन एवं आत्मसात्करण। वह पदार्थों को चहुँ ओर से आवृत करता है और इतस्ततः संचरणशील उन पदार्थों को अंदर विलय भी कर लेता है :
तीव्राः सोमास आ गह्याशीर्वन्तः सुता इमे।
वायोः तान्प्रस्थितान्पिब॥[40]

वेद में वायु के साथ विद्युत् का उल्लेख मिलता है।

तीन प्रकाशपुंज (त्रिस्रो द्यावः[41])—सूर्य, अग्नि एवं विद्युत् में से विद्युत् वायु के लोक में स्थित हैं :
एकाः यमस्य भुवने विराषाट्।[42]

प्राण को स्पष्ट शब्दों में विद्युत् भी कहा गया है :
नमस्ते प्राण विद्युते[43]

प्राण को विद्युत् इसलिए भी कहा गया है क्योंकि यह अग्रसर होते ही पूरे शरीर को प्रकाशित कर देता है :

---

36 शत० ब्रा०, 14.2.2.11
37 दयानन्दभाष्य, ऋग्०, 1.35.6,
38 अथर्व०, 13.4.3
39 ऋग्०, 1.35.3
40 ऋग्०, 1.23.1
41 ऋग्०, 1.35.6
42 वही
43 अथर्व०, 11.4.2

सर्वं शरीरं विद्योतयति[44]

ऊर्ध्वगमनशील प्राणशक्ति का उल्लेख '**तडित्‌रूपा**'[45] शब्द से किया गया है।

प्राणशक्ति से संयुक्त होकर विद्युत् एक चमकदार घातक अस्त्र हो जाती है—

वज्री हिरण्ययः।[46]

वायु एवं विद्युत् के संयुक्त ज्ञान से वैज्ञानिक विशदता को प्राप्त किया जा सकता है।

वायु को अवशोषक कहा गया है, संग्रसन करने के कारण संवर्ग :

वायुर्वाव संवर्गः[47]

जब अग्नि बुझती है तब वह वायु को ही प्राप्त होती है। जब सूर्य अस्त होता है तो वायु में ही जाता है। चन्द्रमा भी अस्त होने पर वायु को ही प्राप्त होता है :

यदा वा अग्निरुद्वायति वायुमेवाप्येति।
यदा सूर्योऽस्तमेति वायुमेवाप्येति।
यदा चन्द्रोऽस्तमेति वायुमेवाप्येति।[48]

जब जल सूखते हैं तब वे वायु में ही चले जाते हैं। वस्तुतः वायु इन सबको लील लेता है :

यदाप उच्छुष्यन्ति वायुमेवापियन्ति।
वायुर्ह्येवैतान्सर्वान्संवृङ्क्त इति।[49]

अग्नि, सूर्य, चन्द्र, जल जैसे शक्तिशाली तत्त्वों का संग्रास करने के कारण वायु संवर्ग है। सूर्य, चन्द्र आदि का अस्त अथवा अदर्शन वायु के संचलन के कारण होता है :

---

44 मैत्री उप॰, 7.11

45 विज्ञानभैरव, 29

46 अथर्व॰, 20.38.5

47 छान्दो॰ उप॰, 4.3.1

48 वही

49 छान्दो॰ उप॰, 4.3.2

चलनस्य वायुकार्यत्वात्।[50]

यह वायु की गति है जो इन्हें आत्मसात् करती है।

प्रलयकाल में सूर्य-चन्द्र का स्वरूप भ्रंश होने पर इनके तेजो रूप का लय वायु में ही होना चाहिए।

वायु एवं प्राण के एकत्व अथवा लाक्षणिक साम्य को स्पष्ट करते हुए, प्राण को भी, अवशोषक तथा आत्मलीन कर लेने के कारण, संवर्ग कहा गया है :

प्राणो वाव संवर्गः[51]

मनुष्य जब सोता है तब उसकी वाणी, चक्षु, श्रोत्र, मन आदि सब प्राण में ही चले जाते हैं :

स यदा स्वपिति प्राणमेव वागप्येति प्राणं चक्षुः प्राणं श्रोत्रं प्राणं मनः प्राणो ह्येवैतान्सर्वान्संवृङ्क्त इति।[52]

इस प्रकार वायु एवं प्राण दोनों ही संवर्जन गुणवाले हैं—देवों में वायु, इन्द्रियों एवं मन में प्राण :

तौ वा एतौ द्वौ संवर्गौ वायुरेव देवेषु प्राणः प्राणेषु।[53]

वायु एवं प्राण के लिए प्रयुक्त 'द्विवचन' से इन्हें दो भिन्न तत्त्व नहीं समझना चाहिये। यह सर्वोपरि रूप से प्राणतत्त्व है जो बाहर वायु एवं शरीर में प्राण रूप से कार्य करता है।

वायु एवं प्राण के ऐक्य के विषय में उल्लेख है कि वायु में विद्यमान तेजोमय अमृतमय पुरुष एवं प्राण में विद्यमान तेजोमय अमृतमय पुरुष—यह आत्मा है, अमृत है, ब्रह्म है :

यश्चायमस्मिन्वायौ तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं प्राणस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदᳯं सर्वम्।[54]

यही दिव्य प्राण तत्त्व है।

---

50 शंकरभाष्य, छान्दो० उप०, 4.3.1

51 छान्दो० उप०, 4.3.3

52 वही

53 छान्दो० उप०, 4.3.4

54 बृहद्० उप०, 2.5.4

मातरिश्वा एवं वायु की ही भाँति 'मरुत्' भी प्राणार्थक हैं। ये भी गति के परिचायक तथा गति के कारण हैं।[55]

"मरुत् ऊर्जा के देव हैं। ये वायु, झंझावात और वर्षा की शक्तियाँ हैं। इन्हें तूफ़ान के बिम्बों से संयुक्त किया गया है और उग्र एवं प्रचंड रुद्रों के रूप में इनका उल्लेख किया गया है। ये वायु के अधिकार-क्षेत्र से सम्बद्ध हैं जो वैदिक वाङ्मय में जीवन का अधिपति है और प्राण एवं गत्यात्मक ऊर्जा का प्रेरक है और जो मनुष्य में विद्यमान प्राणिक एवं स्नायविक गतिविधियों का प्रतिनिधित्व करता है।"[56]

प्रकाश-प्रदीप्ति एवं तीव्रता मरुतों की लाक्षणिक विशेषता है। उनसे जुड़ी हर वस्तु द्युतिमान् है, वे स्वयं, उनके आयुध, उनके अलंकार, उनके चमचमाते रथ। वे नीचे वर्षा और जल तथा स्वर्ग की सम्पदा को उत्सर्जित करते हैं और सुदृढ़ रूप से स्थित वस्तुओं को तोड़ देते हैं ताकि नयी गतियों एवं संरचनाओं को मार्ग मिल सके।"[57]

मरुत् विश्वदेव हैं:
विश्वैर्देवैः मरुद्भिः।[58]

इन विश्वदेव मरुतों का आवाहन करते हुए ऋचा है:
विश्वान्देवान्हवामहे मरुतः सोमपीतये।
उग्रा हि पृश्निमातरः॥[59]

आकाश जिनकी माता है, जो उग्र हैं, विश्वदेव हैं, इन मरुतों का, हम सोमपान के लिए आवाहन करते हैं।

मरुतों से प्रार्थना की गयी है कि वे अपने प्रकाशमय रथ से आयें:
वायवा चन्द्रेण रथेन याहि[60]

---

55 निघण्टु, 5.5

56 श्रीअरविन्द, दि सीक्रेट ऑफ दि वेद, वाल्यू० 10, पृ० 256

57 वही

58 अथर्व०, 3.7.9

59 ऋग्०, 1.23.10

60 ऋग्०, 4.48.1-4

वे हम पर सौम्य सदय हों। वे हमारे सुन्दर हर्ष-आनन्द को ऊपर उठायें और हमारे संपूर्ण दिनों को, विजय की कामना द्वारा, उन्नत करें :

स्तुतासो नो मरुतो मृळयन्तु
ऊर्ध्वा नः सन्तु कोम्या वनान्यहानि विश्वा मरुतो जिगीषा[61]

विस्तृत वेगस्वभावा विद्युत्[62] मरुतों के साथ संयुक्त होकर कार्य करती है।

प्राण तत्त्व दिव्य है।
ये मरुत्गण भी दिव्य हैं :
मरुद्गणा देवासः[63]

---

61 ऋग्०, 1.171.3

62 दयानन्दभाष्य, ऋग्० 1.23.11

63 ऋग्० 1.23.8

प्राण एवं आदित्य

जो यहाँ प्राण है, वहाँ वह आदित्य है।

मैत्री[1]

जब आदित्य उदित होकर प्राची दिशा में प्रवेश करता है तब वह प्राच्य प्राणों को अपनी रश्मियों में समाविष्ट कर लेता है। जब वह दक्षिण, पश्चिम, उत्तर तथा अन्य अन्तर-दिशाओं को प्रकाशित करता है, तब वह सर्व प्राणों को अपनी रश्मियों में अन्तर्लीन कर लेता है।

प्रश्न[2]

"प्राण-ऊर्जा विश्व में, सूर्य के प्रकाश में, सत्ता के अमर तत्त्व के रूप में स्वयं को प्रकट करती है। शरीर में जन्म, जीवन एवं मृत्यु उसकी विशिष्ट एवं बाह्य प्रक्रियाएँ मात्र हैं।"[3]

प्राण एवं आदित्य स्थान-भेद के कारण भिन्न प्रतीत होते हैं, फिर भी यह उनका तात्त्विक भेद नहीं है। वे दोनों समान हैं :

समान उ एवायं चासौ[4]

प्राण ही आदित्य है :

आदित्यो ह वै प्राणः[5]

---

1 अयं यः प्राणो यश्चासा आदित्यः

मैत्री उप०, 6.1

2 अथादित्य उदयन् यत् प्राचीं दिशं प्रविशति तेन प्राच्यान् प्राणान् रश्मिषु सन्निधत्ते। यद्दक्षिणां यत्प्रतीचीं यदुदीचीं यदधो यदूर्ध्वं यदन्तरा दिशो यत्सर्वं प्रकाशयति तेन सर्वान् प्राणान् रश्मिषु सन्निधत्ते।

प्रश्न उप०, 1.6

3 श्रीअरविन्द, दि उपनिषद्स, वाल्यू० 12. पृ० 67

4 छान्दो० उप०, 1.3.2

5 प्रश्न उप०, 1.5

बहुवचनीयता में भी प्राणों को आदित्य कहा गया है :

प्राणा वावादित्या[6]

आदित्या वै प्राणाः[7]

प्राणा वा आदित्याः[8]

प्राण एवं आदित्य में तात्त्विक अभेद स्थापित करते हुए ऋषि की वाणी है, ये दोनों समान हैं। प्राण उष्ण है, वह सूर्य भी उष्ण है। इस प्राण को स्वर अर्थात् गतिशील कहते हैं, उस सूर्य को गमन-आगमनशील होने के कारण स्वर-प्रत्यास्वर कहते हैं :

समान उ एवायं चासौ चोष्णोऽयमुष्णोऽसौ स्वर
इतीममाचक्षते स्वर इति प्रत्यास्वर इत्यमुं . . .[9]

उष्णता में ताप भी है और प्रकाश भी।
स्वर शब्द गति का सूचक है।

प्राण उद्गीथ है क्योंकि यह 'ओम्' ध्वनि करता हुआ गमन करता है :

ओमिति ह्येष स्वरन्नेति।[10]

आदित्य उद्गीथ है क्योंकि यह भी 'ओम्' उच्चारण करता हुआ गमन करता है :

उद्गीथ इत्यसौ वा आदित्य . . . ओमिति ह्येष स्वरन्नेति।[11]

इस प्रकार गति, प्रकाश एवं ध्वनि ये तीनों संलक्षण प्राण एवं आदित्य में समान रूप से प्राप्त हैं एवं इनके तात्त्विक अभेद के सूचक हैं।

श्रुति इनके एकत्व को अनेक रूपों में प्रकट करती है। कथन है, वह 'चैतन्य आत्मा' जो यहाँ मनुष्य में है, 'आत्मा' जो वहाँ सूर्य में है, वह एक है, अन्य नहीं :

स यश्चायं पुरुषे। यश्चासावादित्ये। स एकः।[12]

---

6 छान्दो० उप०, 3.16.5

7 जैमि० उप०, 4.22.11

8 जैमि० उप०, 4.2.9

9 छान्दो० उप०, 1.3.2

10 छान्दो० उप०, 1.5.3

11 छान्दो० उप०, 1.5.1

12 तैत्ति० उप०, 2.8.1

जो यहाँ हृदय में है, वही वहाँ आदित्य में है, वह एक है:
यश्चायं हृदये यश्चासावादित्ये स एष एकः[13]

प्राण को सम्बोधित स्तवन में देवगण प्राण की अभ्यर्थना अन्तरिक्ष में संचरणशील सूर्य के रूप में करते हैं:
त्वमन्तरिक्षे चरसि सूर्यस्त्वं ज्योतिषां पतिः॥[14]

यह प्राण है जो सूर्य के रूप में तपता है:
तपत्येष सूर्यः[15]

सम्बन्ध की दृष्टि से भी आदित्य एवं प्राण अविच्छेद्य हैं।
सूर्य उदित होने पर सर्व दिशाओं के प्राण को आत्मलीन करता है।[16]

सूर्य-रश्मियों में प्राण की सूक्ष्म से सूक्ष्मतर गति अन्तर्निविष्ट है। इन्हें पृथक् या विभक्त नहीं किया जा सकता।
सूर्य को वैश्वानर विश्वरूप प्राणाग्नि कहकर सम्बोधित किया गया है:
स एष वैश्वानरो विश्वरूपः प्राणोऽग्निरुदयते।[17]

इसीके लिए यह ऋचा है:
विश्वरूपं हरिणं जातवेदसं परायणं ज्योतिरेकं तपन्तम्।
सहस्ररश्मिः शतधा वर्तमानः प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः॥[18]

आदित्य को बाह्य प्राण भी कहा गया है:
आदित्यो ह वै बाह्यः प्राणः[19]

प्राण तैजस है, प्रकाशमान तेजोरूप।
काल की दृष्टि से उसे शुक्ल पक्ष एवं दिन की संज्ञा दी गयी है:
शुक्लः प्राणः[20]

---

13 मैत्री उप०, 6.17; 7.7
14 प्रश्न उप०, 2.9
15 प्रश्न उप०, 2.5
16 प्रश्न उप०, 1.6
17 प्रश्न उप०, 1.7
18 प्रश्न उप०, 1.8
19 प्रश्न उप०, 3.8
20 प्रश्न उप०, 1.12

अहरेव प्राणः[21]

सूर्य एवं वैदिक देव सविता आदित्यवाचक हैं :
असावादित्यो देवः सविता[22]

तथा सविता को अनेक मंत्रों में वायु स्वीकार किया गया है, जो प्राण का प्रतिनिधित्व करता है :

वायुरेव सविता[23]
अयं वै सविता योऽहं (वायुः) पवते[24]

सविता 'हिरण्यहस्त' वायु है, जो स्पर्श आदि गुणों से युक्त होकर हर दिशा में संचरण करता है।[25]

सविता सूर्य एवं वायु के अर्थ में संपूर्ण सौर जगत् का धारक है :
सवितुर्दैव्यस्योपस्थे विश्वा भुवनानि तस्थुः।[26]

प्राण एवं आदित्य के संयोजन को उपनिषदों ने अनेक रूपों में प्रकाशित किया है।

मैत्री उपनिषद् में इसका अत्यन्त कलात्मक एवं गहन विश्लेषण प्राप्त है।

उल्लेख है, यह आत्मा स्वयं को द्विधा धारण करती है, यहाँ प्राण, वहाँ आदित्य :

द्विधा वा एष आत्मानं बिभर्ति अयं यः प्राणो
यश्चासावादित्यः[27]

सूर्य बाह्य आत्मा है :
असौ वा आदित्यो बहिरात्मा[28]

---

21 प्रश्न उप०, 1.13

22 शत० ब्रा०, 6.3.1.8

23 जैमि० उप०, ब्रह्मणे, 4.27.5

24 शत० ब्रा०, 14.2.2.9

25 ऋग्०, 1.35.10

26 ऋग्०, 1.35.5

27 मैत्री उप०, 6.1

28 वही

प्राण अन्तरात्मा है :

अन्तरात्मा प्राणः[29]

इसलिए प्राण एवं आदित्य के पथों को भी अन्तर-बाह्य पथ कहा गया है :

द्वौ एता अस्य पन्थाना अन्तर्बहिश्च[30]

ये दोनों पथ अथवा गतियाँ समान हैं।

अन्तरात्मा प्राण के पथ या गति का आकलन बहिरात्मा आदित्य करता है :

बहिरात्मक्या गत्यान्तरात्मनोऽनुमीयते गतिः[31]

तथा बहिरात्मा आदित्य के पथ या गति का आकलन अन्तरात्मा प्राण करता है :

अन्तरात्मक्या गत्या बहिरात्मानोऽनुमीयते गतिः[32]

ये दोनों एक-दूसरे की ओर जाते हैं :

परत एतौ प्राणादित्यौ[33]

अथवा एक-दूसरे के निकट संचरण करते हैं :

अर्वाग् विचरत एतौ प्राणादित्या[34]

प्राण एवं आदित्य की तात्त्विक एवं लाक्षणिक अभिन्नता तथा इन दोनों के द्वारा एक-दूसरे की गति का आकलन यह निश्चय प्रस्तुत करता है कि इनकी गति भी एक होनी चाहिए। यह गति द्वारा गति का आकलन है और गतिविज्ञान के लिए प्रयोगात्मक हो सकता है। प्राण ऊर्जा के रूप में स्वयं गतिविज्ञान है और इसकी गति, सूक्ष्म एवं स्थूल रूपों में न केवल इस भौतिक जगत् के बल्कि जगत् के मानसिक एवं आध्यात्मिक स्तरों के रहस्य का भी उद्घाटन कर सकती है, क्योंकि यह सर्वव्यापी है।

प्राण की गति से इस बाह्य जगत् की गति को मापा जा सकता है, सौरमंडल

---

29 मैत्री उप०, 6.1

30 वही

31 वही

32 वही

33 मैत्री उप०, 6.2

34 वही

की गति को या इसमें सन्निहित समस्त वस्तु-सत्ता की गति को। और यह मापदण्ड, संभवतः, कोई वैज्ञानिक निष्कर्ष भी प्रस्तुत कर सकता है।

प्राण एवं आदित्य।

अब अगला प्रश्न है कि अंदर और बाहर इनके आवास-स्थान क्या हैं ?

उपनिषद् में हमें दो आवास-स्थान मिलते हैं :

एक हृदय-पुष्कर,

दूसरा आकाश।

जो हिरण्मय पुरुष हृदय-पुष्कर में निवास करता है, वह वहाँ आकाश को आश्रित करके रहता है :

अथ य एषोऽन्तरे हृत्पुष्कर एवाश्रितः
स एषोऽग्निः दिवि श्रितः।[35]

पुष्कर एवं आकाश एक हैं :

तत्पुष्करं योऽयमाकाशः[36]

आकाश की चारों दिशाएँ एवं अंतर-दिशाएँ इस पुष्कर के दल हैं :

अस्येमाः चतस्रो दिशाः चतस्र उपदिशो दलसंस्था आसम्[37]

हृदय ही प्राण का आवास-स्थल है :

देवः प्राणिनामुरसि स्थितः[38]

हृदय को प्राण का प्रथम अथवा आदि 'बिन्दु' भी स्वीकार किया गया है :

आदिकोटिः हृदयम्[39]

सूर्य-पथ एवं
प्राण-पथ
इनके संदर्भ में रश्मियों एवं नाड़ियों का उल्लेख महत्त्वपूर्ण है।

---

35 मैत्री उप०, 6.2

36 वही

37 वही

38 स्वच्छन्द०, 7.50

39 भाष्य, प्रत्यभिज्ञा०, 18

सूर्य को 'सहस्ररश्मिः'[40] कहा जाता है, रश्मियों की असंख्यता के कारण। यह यहाँ प्राण का विशेषण भी है।

जिस प्रकार आकाश में स्थित सूर्य की अनन्त रश्मियाँ अनेक दिशाओं में प्रसृत होती हैं, उसी प्रकार

हृदय में दीपवत् निवास करते प्राणात्मा की अनेकवर्णा अनन्त रश्मियाँ ऊपर एवं नीचे, सर्वत्र संचरण करती हैं :

अनन्ता रश्मयः तस्य दीपवत् यः स्थितो हृदि
सितासिताः कद्रुनीलाः कपिला मृदुलोहिताः।[41]

इनका ऊर्ध्वपथ दिव्य लोकों में जाता है एवं
निम्नपथ विश्वचक्र की ओर।

प्राण की ये रश्मियाँ हृदय से निःसृत सहस्रों नाड़ियाँ हैं, जिनमें प्राण संचरण करता है :

हृदि ह्येष आत्मा . अत्रैतदेकशतं नाडीनां तासां शतं शतमेकैकस्यां द्वासप्ततिर्द्वा-सप्ततिः प्रतिशाखानाडीसहस्राणि भवन्त्यासु व्यानश्चरति।[42]

'व्यान' प्राण की सर्वव्यापिनी गति है।

रश्मियाँ सूर्य-पथ हैं।
नाड़ियाँ प्राण-पथ हैं।
विशिष्ट रश्मियाँ विशिष्ट सूर्य-पथ हैं।
विशिष्ट नाड़ियाँ विशिष्ट प्राण-पथ हैं।

और इनमें प्राण एवं आदित्य की तात्त्विक एकरूपता की भाँति ही ऐक्य है, गति की सामान्यता।

---

40 प्रश्न उप०, 1.8
41 मैत्री उप०, 6.30
42 प्रश्न उप०, 3.6

एक देव प्राण एवं अन्य देव-शक्तियाँ

सब देव प्राण की उपासना करते हैं।

अथर्व[1]

देवगण प्राणमय होकर ही अमरत्व प्राप्त करते हैं, इसीलिए वे अमर हैं।

—कौष०[2]

देवता सब ओर से उस प्राण में प्रवेश कर गये।

बृहद्०[3]

उपनिषद् में अनेक देवों का उल्लेख है :

अनन्ता विश्वेदेवाः।[4]

और एक देव प्राण का भी :

कतम एको देव इति ?

प्राण इति।[5]

शाकल्य एवं याज्ञवल्क्य के बीच देवों की संख्या को लेकर प्रश्नोत्तर होते हैं। याज्ञवल्क्य संख्या को संक्षिप्त करते हुए तैंतीस देवताओं पर ठहरते हैं और कहते हैं कि अन्य सब देवता इन्हीं देवों का प्राकट्य एवं प्रकाश हैं :

महिमान ऐवैषामेते[6]

---

1 **प्राणं देवा उपासते**

अथर्व०, 11.4.11

2 **देवास्तत्प्राप्य तदमृतो भवति यदमृता देवाः**

कौषी० ब्रा० उप०, 2.14

3 **तः्समन्तं परिण्यविशन्त।**

बृहद० उप०, 1.3.18

4 बृहद० उप०, 3.1.9

5 बृहद० उप०, 3.9.9

6 बृहद० उप०, 3.9.2

ये तैंतीस देवता आठ वसु, ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य, इन्द्र एवं प्रजापति हैं।

एक देव प्राण है क्योंकि वह वसु भी है, रुद्र, आदित्य, इन्द्र एवं प्रजापति भी :

प्राण वाव वसवः[7]

प्राण वाव रुद्राः[8]

प्राणा वावादित्या[9]

इन्द्रस्त्वं प्राण[10]

प्रजापतिः . . . त्वमेव[11]

विदर्भ भार्गव ने ऋषि पिप्पलाद से प्रश्न किया, "भगवन्, वे कितने देव हैं जो प्राणी को स्थित रखते हैं ? कितने देव इसे प्रकाशित करते हैं ? इनमें कौन वरिष्ठ हैं ? इति"—

भगवन् कत्येव देवाः प्रजां विधारयन्ते ? कतर एतत्प्रकाशयन्ते ? कः पुनरेषां वरिष्ठः ? इति।[12]

उन्होंने उत्तर दिया, "ये देव हैं आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी, वाणी, मन, चक्षु एवं श्रोत्र" :

आकाशो ह वा एष देवो वायुरग्निरापः पृथिवी वाङ्मनश्चक्षु श्रोत्रं च।[13]

उनमें प्रकाशन-शक्ति एवं वरिष्ठता को लेकर विवाद हुआ। तब वरिष्ठ प्राण ने कहा, "मोह मत करो ! यह मैं हूँ जो स्वयं को पंचविध विभक्त करके इस देहरूपी बीन को स्थित रखता हूँ।"[14]

---

7 छान्दो० उप०, 3.16.1

8 छान्दो० उप०, 3.16.3

9 छान्दो० उप०, 3.16.5

10 प्रश्न उप०, 2.9

11 प्रश्न उप०, 2.7

12 प्रश्न उप०, 2.1

13 प्रश्न उप०, 2.2

14 प्रश्न उप०, 2.3

जब उन्हें विश्वास नहीं हुआ, तब प्राण जाने के लिए उद्यत हुआ। पर जब प्राण उत्क्रमण करता है, तब सब उत्क्रमण करते हैं। प्राण की प्रतिष्ठा में ही सबकी प्रतिष्ठा है :

तस्मिन्नुत्क्रामत्यथेतरे सर्व एवोत्क्रामन्ते, तस्मिंश्च प्रतिष्ठमाने सर्व एव प्रातिष्ठन्ते।[15]

देवों ने प्राण की वरिष्ठता को स्वीकार किया और प्रसन्न होकर प्राण की सर्वदेवमयी शक्ति एवं सर्वोपरि ईशता की स्तुति की। यह स्तुति प्राण के सर्वदेवत्व को प्रकट करती है।

प्राण ही अग्नि है, प्राण ही सूर्य है जो तपता है। वही पर्जन्य, इन्द्र और वायु है। वही भौतिक द्रव्य (मैटर) एवं देव है। सद्, असद्, अमरत्व सब वही है :

एषोऽग्निस्तपत्येष सूर्य एष पर्जन्यो मघवानेष वायुः।
एष पृथिवी रयिर्देवः सदसच्चामृतं च यत्॥[16]

प्राण एक देव है, सर्व प्राणियों में गुह्य। वह सर्वव्यापी सर्वान्तरात्मा है :

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।[17]

वह ईश्वरों में ईश्वर, देवों में परम दैवत है। सबका अधिपति एवं भुवनों का स्वामी है :

तमीश्वराणां परमं महेश्वरं तं देवतानां परमं च दैवतम्।
पतिं पतीनां परमं परस्ताद्विदाम देवं भुवनेशमीड्यम्॥[18]

प्राण एक देव है और अनेक देवों या देवशक्तियों का समवाय भी। जब यह अपने अनेक गति-वैशिष्ट्यों के साथ प्रकट होता है, बहुवचनात्मक रूप में, तब देवता भी बहुवचन में अभिहित होते हैं। और जब इसकी गति एक या किसी सर्वोपरि वैशिष्ट्य को प्रकट करती है तब देवता भी सर्वोच्च सत्ता के रूप में एकवचनीय अभिधान ग्रहण करते हैं।

देवगण एक ही सत्ता का बहुविध प्रकाशन हैं :

---

15 प्रश्न उप०, 2.4

16 प्रश्न उप०, 2.5

17 श्वेता० उप०, 6.11

18 श्वेता० उप०, 6.7

एकं रूपं बहुधा यः करोति।[19]

वस्तुतः जगत् का हर आविर्भाव प्राण में ही गतिशील और प्राण से ही निःसृत है :

यदिदं किञ्च जगत्सर्वं प्राण एजति निःसृतम्।[20]

देवता भी उसी से सम्प्रसूत हैं :

तस्माच्च देवा बहुधा सम्प्रसूताः।[21]

प्राण गति है—एक सार्विक विराट् गति।

देवगण भी गति हैं—कई वैशिष्ट्यों या एक वैशिष्ट्य से युक्त गति। और उनका एक विशिष्ट पथ है। एक विशिष्ट कार्य, लक्ष्य एवं प्रयोजन।

प्राण में सर्वव्यापी सर्वत्रता है।

जब कि देवगण एक रूप, एक स्थान, एक गति एवं एक शक्ति को विविधता से प्रकट करते हैं। वे एक देव प्राण का ही वैशिष्ट्य हैं, उसकी बहुविध अभिव्यंजना। चेतना के अनेक स्तरों पर नियुक्त उसके प्रतिनिधि।

प्राण की गति का एक आचरण, उसकी गति का एक विशिष्ट प्रकार एक देवता में प्रतिभासित होता है।

प्राण ईश है :

सर्वस्येश्वरः[22]

प्राण सर्वदेवमय है, सर्वदेवमयी अदिति का जनक :

या प्राणेन सम्भवत्यदितिर्देवतामयी।[23]

अदिति प्राण से प्रादुर्भूत होकर अन्तःस्थित देवताओं का प्रकाशन करती है।

सबमें प्राण के प्रकाश की छाया है। उसकी दीप्ति से यह संपूर्ण जगत् चमकता है :

तमेव भान्तमनुभाति सर्वं

---

19 कठ उप०, 2.2.12

20 कठ उप०, 2.3.2

21 मुंडक उप०, 2.1.7

22 अथर्व०, 11.4.1

23 कठ उप०, 2.1.7

तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।[24]

प्राण ही सब देवों में ज्येष्ठ एवं श्रेष्ठ है :
प्राणो वाव ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च[25]

इस प्राण के लिए अयाचित ही सर्व देवता बलि अर्पित करते हैं :
एतस्मै प्राणाय एताः सर्वा देवता अयाचमानाय बलिं हरन्ति।[26]

प्राण में ही सब देव प्रविष्ट होकर रहते हैं :
तऽसमन्तं परिण्यविशन्त।[27]

यही वह है जो ऊर्ध्वप्राण को ऊपर ले जाता है और निम्नप्राण को नीचे ले जाता है। यही वह है जो मध्य में वामन रूप में आसीन है और जिसकी सब देव उपासना करते हैं :

ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयत्यपानं प्रत्यगस्यति।
मध्ये वामनमासीनं विश्वे देवा उपासते॥[28]

उपनिषदों में प्राण के सर्वात्मक एवं सर्वव्यापक रूप का विशद वर्णन प्राप्त होता है।

देवगण प्राण की स्तुति करते हुए कहते हैं, "हे प्राण, तुम ही इन्द्र हो, रक्षक रुद्र हो और अन्तरिक्ष में संचरण करनेवाले ज्योतियों के अधीश्वर सूर्य भी तुम हो :

इन्द्रस्त्वं प्राण तेजसा रुद्रोऽसि परिरक्षिता।
त्वमन्तरिक्षे चरसि सूर्यस्त्वं ज्योतिषां पतिः॥[29]

प्राण आदित्य है :
आदित्यो ह वै प्राणः[30]

---

24 मुंडक उप०, 2.2.11
25 छान्दो० उप०, 5.1.1.; बृहद० उप०, 6.1.6
26 कौषी० ब्रा० उप०, 2.2
27 बृहद० उप०, 1.3.18
28 कठ उप०, 2.2.3
29 प्रश्न उप०, 2.9
30 प्रश्न उप०, 1.5

जब यह उदित होता है और प्राची दिशा में प्रवेश करता है तब यह अपनी रश्मियों में प्राच्य प्राणों को अन्तर्लीन कर लेता है। जब यह दक्षिण, पश्चिम, उत्तर एवं ऊपर-नीचे के दिगन्तों को प्रकाशित करता है तब सर्व दिशाओं के प्राणों को अन्तर्लीन कर लेता है :

अथादित्य उदयन् यत् प्राचीं दिशं प्रविशति तेन प्राच्यान् प्राणान् रश्मिषु सन्निधत्ते। यद्दक्षिणां यत्प्रतीचीं यदुदीचीं यदधो यदूर्ध्वं यदन्तरा दिशो यत्सर्वं प्रकाशयति तेन सर्वान् प्राणान् रश्मिषु सन्निधत्ते।[31]

यही वैश्वानर विश्वरूप अग्नि है :

स एष वैश्वानरो विश्वरूपः प्राणोऽग्निरुदयते।[32]

यही वह है जिसके विषय में यह ऋचा है :

विश्वरूपं हरिणं जातवेदसं परायणं ज्योतिरेकं तपन्तम्।
सहस्ररश्मिः शतधा वर्तमानः प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः॥[33]

आदित्य प्राण है और यह सब प्राणियों का जीवन है।

प्राण सूर्य के वैशिष्ट्य का भी अतिक्रमण करता है।
मंत्र है :

यतः सूर्य उदेत्यस्तं यत्र च गच्छति।
तदेव मन्येऽहं ज्येष्ठं तदु नान्येति किं चन॥[34]

जहाँ से सूर्य उदय होता है और जहाँ अस्त होता है, वही अग्रज एवं सर्वश्रेष्ठ है, उसका अतिक्रमण कोई नहीं कर सकता।
और यह प्राण है।

इस प्रकार शास्त्रों में प्राण की सर्वोपरिता सर्वत्र मान्य है।

सातवलेकर के शब्दों में, "महादेव, शंभु, रुद्र आदि नामों से प्राण का ही बोध होता है। व्यक्ति के शरीर में प्राण ही उसकी विभूति है। विश्वव्यापक प्राणशक्ति के आश्रय से अग्नि, वायु, इन्द्र, सूर्य आदि देवगण रहते हैं और अपना कार्य करते हैं। व्यष्टि

---

31 प्रश्न उप०, 1.6

32 प्रश्न उप०, 1.7

33 प्रश्न उप०, 1.8

34 अथर्व०, 10.8.16

में और समष्टि में एक ही नियम कार्य कर रहा है। व्यष्टि में प्राण के कारण इन्द्रियाँ रहती हैं और समष्टि में व्यापक प्राणशक्ति के साथ अग्नि, वायु आदि देव।"[35]

उनका कथन है कि "अथर्ववेद के प्राणसूक्त में अग्नि, सूर्य, इन्द्र, वायु, पृथिवी, रुद्र आदि शब्द प्राणवाचक हैं। इन देवों के सूक्तों में भी प्राणतत्त्व का प्रकाशन हुआ है। अग्नि, सूर्य आदि देवों को 'प्राण' समझकर इन सूक्तों का अर्थ किया जाना चाहिए।"[36]

अन्य वेदों में भी 'प्राण' शब्द प्रयुक्त हुआ है किंतु स्वामी दिव्यानन्द के मत में "वायवः, वातादयः, रुद्राः, इन्द्रः, अग्निषोमौ, अङ्गिरसः, अङ्गिराः इत्यादि पर्याय-वाची शब्दों का प्रयोग प्राण शब्द की अपेक्षा अधिक हुआ है।"[37]

इन्होंने मित्रावरुण को प्राण-अपान के रूप में स्वीकार किया है, जब कि स्वामी दयानन्द मित्रावरुण को प्राण एवं उदान रूप में स्वीकार करते हैं।[38]

शतपथ ब्राह्मण ने इन्हें प्राण एवं उदान माना है :
प्राणोदानौ वै मित्रावरुणौ[39]
प्राणोदानौ मित्रावरुणौ[40]

साधक मित्रावरुण से प्रार्थना करता है :
मा हेळे भूम वरुणस्य वायोर्मा मित्रस्य।[41]

प्राण-अपान अथवा प्राण-उदान वायु हम पर कुपित न हों।

वे मृदुता से प्रवाहित हों और हमारा सिंचन करें :
प्र बाहवा सिसृतं जीवसे नः[42]

---

35 दामोदर सातवलेकर, निबन्ध, अथर्व०, प्राणसूक्त, 11.4

36 वही

37 स्वामी दिव्यानन्द सरस्वती, वेदों में योगविद्या, पृ० 100

38 सखा प्राणो वा
उत्तम उपदेष्टा उदानो वा
भाष्य, ऋग्०, 1.43.3

39 शत० ब्रा०, 1.8.3.12; 3.6.1.16

40 शत० ब्रा०, 3.2.2.13

41 ऋग्०, 7.62.4

42 ऋग्०, 7.62.5

स्वामी दयानन्द के अनुसार अश्विनीकुमार प्राण एवं अपान हैं।[43]

कुछ भाष्यकारों ने इन्द्र को प्राणसंज्ञक वायुदेव के रूप में स्वीकार किया है:

इन्द्रो वसुभिः परि पातु नो गयं . . .[44]
वायुदेव आठ वसुओं के साथ हमारी संतति की रक्षा करें।

इन्द्र का उल्लेख वरुण, आदित्य एवं मरुतों के साथ भी हुआ है:
इन्द्रस्य वृष्णो वरुणस्य राज्ञ आदित्यानां मरुतां शर्ध उग्रम्।[45]

इस ऋचा में सबके बलों के अलावा प्राण के उग्र बल का आवाहन किया गया है।

मरुत् से प्रार्थना है कि वह प्रकाश करे, जिसकी हम कामना करते हैं:
ज्योतिष्कर्त्ता यदुष्मसि[46]

मरुत् जीवन की शक्ति हैं, गत्यात्मक प्राण-ऊर्जा। वे अपनी अनेक ज्योतियों से हमारी चेतना को ऊपर ले जाते हैं।

'प्राण एवं आदित्य' तथा 'प्राण, वायु एवं मरुत्' शीर्षकों के अन्तर्गत आदित्य, वायु एवं मरुत् का विशद विचार किया गया है। अब हम प्राण के अभिधेय वसु, रुद्र, प्रजापति एवं अग्नि आदि देव-सत्ताओं का पृथक्तः अध्ययन प्रस्तुत करेंगे।

प्राण वसु हैं:
प्राणा वाव वसुवः[47]

क्योंकि ये सबमें वास करते हैं:
एते हीदं सर्वं वासयन्ति।[48]

---

43 उद्धृत, देवीचन्द्र, दि यजुर्वेद, पृ० 12, पादटिप्पणी

44 ऋग्०, 10.66.3

45 उद्धृत, स्वामी दिव्यानन्द सरस्वती, वेदों में योगविद्या, पृ० 106, पादटिप्पणी

46 ऋग्०, 1.86.10

47 छान्दो० उप०, 3.16.1

48 वही

वसु आठ हैं। विष्णुपुराण में इन्हें आप, ध्रुव, सोम, धरा, अनिल, अनल, प्रत्यूषा एवं प्रभास स्वीकार किया गया है।

उपनिषद् के प्रमाण से अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य, द्युलोक, चन्द्रमा और नक्षत्र आठ वसु हैं।[49]

वसुओं को प्रायः इन्द्र के साथ संयुक्त किया गया है।[50]

वसु का लोक भी अन्तरिक्ष है :

वसुरन्तरिक्षसद्[51]

उपनिषद् में ऋषि के वचन हैं, "यदि आयु के उषाकाल में कोई विपदा आये तो अन्दर वास करनेवाले प्राण-वसुओं का आवाहन इन शब्दों में करना चाहिए :

प्राणा वसवः, इदं मे प्रातः सवनं
माहं प्राणानां वसूनां मध्ये यज्ञो विलोप्सीयेति[52]

और वह प्राण-वसुओं की कृपा से विपदा-मुक्त हो जाता है।

वसुओं का प्रकाश मार्ग को ज्योतिर्मय करता है। उनकी शक्ति सब बाधाओं को निरस्त कर पथ को प्रशस्त करती है।

देह में प्राण-वसुओं के वास से ही सर्व वास करते हैं, अन्यथा नहीं। ये वसु हैं जो मानव-यज्ञ को निर्बाध आगे ले जाते हैं।

प्राणों को रुद्र भी कहा गया है :

प्राणो वाव रुद्राः[53]
कतमे रुद्रा इति ?
दशेमे पुरुषे प्राणाः आत्मैकादशः[54]

रुद्र एकादश हैं। प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान आदि प्राण एवं नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त, धनंजय आदि उपप्राण तथा एक अन्तरात्मा।

---

49 बृहद० उप०, 3.9.3

50 **इन्द्रो वसुभिः**, ऋग्०, 10.66.3

51 कठ उप०, 2.2.2

52 छान्दो० उप०, 3.16.1

53 छान्दो० उप०, 3.16.3

54 बृहद० उप०, 3.9.4; शत०, ब्रा० 14.6.9.4-6

शंकराचार्य के अनुसार पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ तथा एक अन्तरात्मा ये ग्यारह प्राण अथवा रुद्र हैं।

प्राण-रुद्रों की एकादश संख्या सन्देहात्मक नहीं है क्योंकि अन्तरात्मा को अन्यत्र प्राण ही स्वीकार किया गया है :

अन्तरात्मा प्राणः[55]

रुद्र के मार्ग को प्राण का मार्ग कहा गया है :

रुद्र वर्तनी प्राणस्य वर्तनी[56]

उपनिषद् में शंभु, भव, रुद्र, प्रजापति, हिरण्यगर्भ के रूप में प्राण को ही जानने, खोजने का निर्देश दिया गया है :

एष हि खलु आत्मेशानः शंभुर्भवो रुद्रः प्रजापतिः विश्वसृक् हिरण्यगर्भः सत्यं प्राणो हंसः . . . सविता धाता विधाता . . . विजिज्ञासितव्योऽन्वेष्टभ्यः।[57]

सातवलेकर के मत में, "पंच प्राण ही पंचमुखी महादेव हैं। रुद्र के सब नाम प्राणवाचक हैं। इसलिए भव, शर्व, पशुपति आदि देवताओं के सूक्त अपने अनेक अर्थों में प्राणवाचक अर्थ को भी व्यक्त करते हैं। इस रीति से वेद में अनेक स्थलों पर प्राण की उपासना दिखाई देगी।"[58]

रुद्रों को आदित्यों एवं वसुओं के साथ भी संयुक्त किया गया है :

आदित्या रुद्रा वसवः सुनीथा[59]

इस ऋचा में रुद्र प्राणों के परिचायक हैं। अर्थ है—एकादश प्राण-रुद्र प्रीतिपूर्वक योग-यज्ञ की वृद्धि करते हैं।

जिस प्रकार आयु के उषाकाल के देवता वसु हैं, उसी प्रकार मध्य आयु के देवता रुद्र हैं। यदि जीवन के इस काल में रोग-शोक हो तो निवारण के लिए इन शब्दों में प्राण-रुद्रों का आवाहन करना चाहिए :

---

55 कौषी० ब्रा० उप०, 2.1

56 स्वामी दयानन्द भाष्य, ऋग्०, 1.3.3

57 मैत्री उप०, 6.8

58 दामोदर सातवलेकर, निबन्ध, अथर्व०, प्राणसूक्त, 11.4

59 ऋग्०, 3.8.8

प्राणा रुद्राः इदं मे माध्यन्दिनं सवनं
माहं प्राणानां रुद्राणां मध्ये यज्ञो विलोप्सीयेति[60]

इस प्रार्थना से वह रोगमुक्त हो जाता है।

रुद्र जीवन का अधिपति है जो अपने कार्यों के गति-बल से संचरण करता है :

प्राणाधिपः संचरति स्वकर्मभिः।[61]

वह विश्व का अधीश्वर महान् ऋषि है :
विश्वाधिपो रुद्रो महर्षिः।[62]

वह देवों का भी अधिपति है और उसमें समस्त लोक अधिष्ठित हैं :
यो देवानामधिपो यस्मिँल्लोका अधिश्रिताः।[63]

रुद्र देवों का उद्गम एवं मूल है :
देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च[64]

वह देवताओं की दिव्यता एवं देवत्व है :
देवतानां परमं च दैवतम्।[65]

यह इस भयजन्य देव का भय है कि सूर्य, अग्नि, वायु आदि देवता अपने कार्यों का समुचित निर्वाह करते हैं :
भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः।
भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः॥[66]

प्राण प्रजापति है :
तत्प्रजापतिः[67]

---

60 छान्दो० उप०, 3.16.4
61 श्वेता० उप०, 5.7.
62 श्वेता० उप०, 4.12
63 श्वेता उप०, 4.13
64 श्वेता उप०, 6.7
65 श्वेता उप०, 4.2
66 कठ उप०, 2.3.3
67 श्वेता उप०, 4.2

अथवा उसे प्रजापति भी कहते हैं :

प्राणमाहु प्रजापतिम्।[68]

प्राण में प्रतिष्ठित यह जगत् और ये प्रजाएँ प्राण के लिए बलि अर्पित करती हैं :

तुभ्यं प्राण प्रजास्त्विमा बलिं हरन्ति यः प्राणैः प्रतितिष्ठसि।[69]

प्राण-वर्षण से उसकी प्रजाएँ आननदमग्न हो स्थित रहती हैं :

यदा त्वमभिवर्षस्यथेमाः प्राण ते प्रजाः
आनन्दरूपास्तिष्ठन्ति॥[70]

यह प्राण ही है जो प्रजापति के रूप में गर्भ में संचरण करता है और तद्रूप होकर जन्म लेता है :

प्रजापतिश्चरसि गर्भे त्वमेव प्रतिजायसे।[71]

यह अन्दर अदृश्य रहकर संचरण करता है और तब बहुत रूपों एवं प्रकारों में उत्पन्न होता है :

प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरदृश्यमानो बहुधा विजायते।[72]

विश्व का स्रष्टा यह अनेक रूप है :

विश्वस्य स्रष्टारमनेकरूपम्

यही संपूर्ण जगत् को परिवेष्टित करता है :

विश्वस्यैकं परिवेष्टितारम्।[73]

और एक बीज को अनेक रूपों में रचता है :

एकं बीजं बहुधा यः करोति।[74]

प्राण ही ईश, विष्णु और पितामह है। प्राण ही सब लोकों का आधार है :

---

68 अथर्व०, 11.4.12
69 प्रश्न उप०, 2.7
70 प्रश्न उप०, 2.10
71 प्रश्न उप०, 2.7
72 अथर्व०, 10.8.13
73 श्वेता० उप०, 5.13
74 श्वेता० उप०, 6.12

प्राणो हि भगवान् ईशः प्राणो विष्णु पितामहः।
प्राणेन धार्य्यते लोकः सर्वं प्राणमयं जगम्॥

हे प्रजापति, यह तुम हो, अन्य कोई नहीं, जो इन समस्त आविर्भूत रूपों को व्याप्त एवं समाविष्ट करते हो :

प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वारूपाणि परि ता बभूव।[75]

यह आत्मसत्ता है जो आविर्भाव बनती है, सम्पूर्ण सत्ताओं का आविर्भाव :

यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद्[76]

उपनिषद् की इस पंक्ति की व्याख्या करते हुए श्रीअरविन्द का कथन है, "संपूर्ण संभवन (बिकमिंग) उस सद् (बीइंग) में जन्म लेता है जो स्वयं इन संभवनों को अतिक्रान्त करता है और जो इनका प्रभु, प्रजापति है।"[77]

प्राण अग्नि है :

अग्निर्ह वै प्राणः।[78]

देवगण प्राण के स्तोत्र में सर्वप्रथम अग्नि का वाचन करते हैं :

एषो अग्निस्तपति[79]

यह प्राणाग्नि है, प्राणानल जो तपता है।

इस प्राणाग्नि को श्रीअरविन्द ने संकल्प अथवा इच्छा-शक्ति कहा है। उनके शब्द हैं, "विश्व में क्रियाशील 'दिव्य संकल्प' की अग्निशिखा, 'चैतन्य' की शक्ति, मर्त्यों में अमृत है यह अग्नि। यह यात्रा का नेता और वैश्वानर है—ब्रह्मांडीय पुरुष। इसमें समस्त देवों का वास है और यह लोकों का आधार है। यह विश्व की संपूर्ण क्रियाओं को बनाये रखता है और अन्ततः देवत्व एवं अमरत्व को परिपूर्ण करता है। प्राणाग्नि दिव्य 'कार्य' का कर्ता है।"[80]

पंच प्राण, पंच अग्नि, प्राणाग्निहोत्र आदि शब्दों से प्राण की अग्निरूपता को

---

75 यजु०, 10.20

76 ईश उप०, 7

77 दि उपनिषद्स्, वाल्यू० 12, पृ० 126

78 जाबाल उप०, 4

79 प्रश्न उप०, 2.5

80 दि उपनिषद्स्, वाल्यू० 12, पृ० 129

पहचाना जा सकता है। दिव्य प्राण सहस्राक्ष अग्नि है। उसके सैंकड़ों ऊर्ध्व प्राण, सैंकड़ों प्राण एवं सहस्रों व्यान हैं। सहस्र सम्पदाओं पर उसका प्रभुत्व है। अपनी शक्ति के लिए वह प्रशंसनीय और प्रणम्य है :

अग्ने सहस्राक्ष शतमूर्धञ्छतं ते प्राणाः सहस्रं व्यानाः।
त्वं साहस्रस्य राय ईशिषे तस्मै ते विधेम वाजाय स्वाहा॥[81]

यह अग्निरूप प्राण ही है जो प्राण, अपान, व्यान, तेज और स्वातंत्र्य का प्रदाता है :

प्राणदा अपानदा व्यानदा वर्चोदा वरिवोदाः

और इनका रक्षक भी है :

प्राणपा मे अपानपाश्चक्षुष्पाः श्रोत्रपाश्च मे।[82]

प्राणाग्नि सूर्यसंज्ञक है, वैश्वानर और विश्वरूप है।[83]

गार्ग्य एवं पिप्पलाद के संवाद में गार्ग्य का प्रश्न है, "भगवन्, वे कौन हैं जो इस पुरुष में सोते हैं ? कौन इसमें जागता है ? वह देव कौन है जो स्वप्न देखता है ? सुख अनुभव करता है ? किसमें सब अन्तरित हो जाते हैं ?"[84]

पिप्पलाद का उत्तर है, "जिस प्रकार सूर्य की किरणें अस्तकाल में चली जाती हैं और प्रकाश-पिंड के साथ एक हो जाती हैं और उदयकाल में पुनः बाहर निकल आती हैं, उसी प्रकार नींद में सब उस देव के अंदर चले जाते हैं—मन भी। मनुष्य तब देखता है न सुनता है। सब कहते हैं कि वह सो रहा है।"[85]

पिप्पलाद आगे कहते हैं :

"किंतु, उस सोये हुए नगर में प्राणाग्नियाँ जागती रहती हैं। इनमें अपान गार्हपत्य अग्नि है, व्यान कुलदेवताओं की अग्नि और मुख्य प्राण आहवनीय अग्नि है" :

प्राणाग्नय एवैतस्मिन् पुरे जाग्रति।
गार्हपत्यो ह वा एषोऽपानो व्यानोऽन्वाहार्यपचनो यद्

---

81 यजु॰ 17.71

82 यजु॰ 20.34

83 प्रश्न॰ उप॰, 1.7

84 प्रश्न उप॰, 4.1

85 प्रश्न उप॰, 4.2

गार्हपत्यात् प्रणीयते प्रणयनादाहवनीयः प्राणः।[86]

प्राण नित्य जाग्रत अग्नि है। सबके सो जाने पर भी यह जागता रहता है :
य एष सुप्तेषु जागर्ति[87]

यह प्राण सावधान खड़ा जागता है, इसका सोना कभी किसी ने सुना नहीं :
ऊर्ध्वः सुप्तेषु जागार ननु तिर्यङ् नि पद्यते।
न सुप्तमस्य सुप्तेष्व शुश्राव कश्चन॥[88]

"अग्नि का अर्थ है 'शक्तिशाली', 'देदीप्यमान', 'प्रदीप्ति' एवं 'शक्ति'। यह स्वभावतः ही प्रकाशमान 'ऊर्जा' का स्मरण है जो भुवनों का निर्माण करती है और मनुष्य को सर्वोच्च शिखर तक ले जाती है, महान् कार्य की कर्ता, मानव-यज्ञ की पुरोधा।"[89]

यह अग्नि है, जो देव है, देवों के साथ आने के लिए उसका आवाहन है :
देवो देवेभिः आगमत्[90]

यह अग्नि 'जातवेदा'[91] है, ज्ञान से परिपूर्ण।
प्राण जातवेदा है क्योंकि वह समस्त जन्मों को जानता है।

यह प्राण है, जिसमें सब देव अर्पित हैं, कोई भी उसका अतिक्रमण नहीं करता। उसी से सूर्य उदित होता है और उसी में अस्त होता है :
यतश्चोदेति सूर्योऽस्तं यत्र च गच्छति।
तं देवाः सर्वेऽर्पितास्तदु नात्येति कश्चन॥[92]

प्राण बृहस्पति है।[93]

---

86 प्रश्न उप०, 4.3
87 कठ० उप०, 2.2.8
88 अथर्व०, 11.4.25
89 श्रीअरविन्द, दि सीक्रेट ऑफ दि वेद, वाल्यू० 10, पृ० 53
90 ऋग्०, 1.1.5
91 कठ उप०, 2.1.8
92 कठ उप०, 2.1.9
93 बृहद० उप०, 1.3.20

प्राण ब्रह्मणस्पति है।[94]

यह प्राण की ही दिव्यता अथवा देव-शक्ति है जो वाग्, घ्राण, चक्षु आदि अन्य शक्तियों के मृत्यु रूप पाप का हनन कर उन्हें मृत्यु के पार ले जाती है अर्थात् उनमें देवत्व की प्रतिष्ठा करती है :

सा वा एषा देवतैतासां देवतानां पाप्मानं मृत्युमहत्य अथैना मृत्युं अत्यवहत्।[95]

मृत्यु को अतिक्रान्त करने के कारण वाग् अग्नि होकर प्रदीप्त होती है, घ्राण वायु बनकर बहता है, चक्षु सूर्य होकर तपता है :

सोऽयं अग्नि परेण मृत्युमतिक्रान्तो दीप्यते।
सोऽयं वायुः परेण मृत्युमतिक्रान्तः पवते।
सोऽसौ आदित्यः परेण मृत्युमतिक्रान्तः तपति।[96]

वस्तुतः अग्नि, आदित्य आदि में प्राण की ही देवरूपता है। प्राण के विभिन्न रूपों में सर्व देवों का समावेश है :

प्रथमः प्राणः . . . अग्निः
द्वितीयः प्राणः . . . आदित्यः
तृतीयः प्राणः . . . चन्द्रमाः
चतुर्थः प्राणः . . . पवमानः।[97] आदि

प्राण सर्वदेवमय है।

भगवान भाष्यकार के शब्दों में "प्राण ब्रह्म सर्वदेवात्मक होने के कारण महत् ब्रह्म है। प्राण ही देवताओं का एकत्व एवं नानात्व है। अनन्त देवों का विशिष्ट देवों में अन्तर्भाव और उनका भी तैंतीस देवों में और तब एक देव प्राण में अन्तर्भाव है। एक प्राण का ही अनन्त संख्या में विस्तार हुआ है। इस प्रकार प्राण ही एक, अनन्त तथा अन्यान्य संख्या विशिष्ट है।"[98]

---

94 बृहद० उप०, 1.3.21

95 बृहद० उप०, 1.3.11

96 बृहद० उप०, 1.3.12-16

97 अथर्व०, 15.25.3-6

98 शंकरभाष्य, बृहद० उप०, 3.9.9

विश्वभेषज प्राण

आयु प्राण है, प्राण ही आयु है।

कौषी०[1]

प्राण से ही देवता अनुप्राणित हैं, मनुष्य और पशु भी।

तैत्ति०[2]

हे प्राण, माता के सदृश हमारी रक्षा करो।

प्रश्न[3]

प्राण जीवन-तत्त्व है। अस्तित्व का हर अणु-महत् अंश और स्तर न केवल प्राण के साथ संयुक्त है बल्कि अपनी व्याप्ति में अविनाभावी रूप से उसी पर आश्रित है। ये प्राण के ही तन्तु हैं, उसी के तार, जिनसे हम बने और बुने गये हैं। प्राण ही इस देह रूपी तंत्री का धारक है। उपनिषद् के ऋषि एक संवाद में प्राण के मुख से ही कहलाते हैं:

अहमेव एतद्बाणं विधारयामि।[4]

प्राण है कि अस्तित्व है।

प्राण जीवन भी है और जीवन का रक्षक-पोषक तत्त्व भी। प्राण की अनुकूलता का अर्थ है आरोग्य, आनन्द। इसीलिए यहाँ जीवन में एवं शरीर अथवा इस लोक में ही उसके सख्य भाव की अभ्यर्थना की गयी है:

इहैव प्राणः सख्ये नोऽस्तु।[5]

प्राण विश्वभेषज है—सर्वरोगहर औषध और चिकित्सक। शरीर में प्राण-अपान

---

1 आयुः प्राणः प्राणो वा आयुः।

कौषी० ब्रा० उप०, 3.2

2 प्राणं देवा अनु प्राणन्ति। मनुष्याः पशवश्च ये।

तैत्ति० उप०, ब्रह्मा०, 3

3 मातेव पुत्रान् रक्षस्व।

प्रश्न० उप०, 2.13

4 प्रश्न० उप०, 2.3

5 अथर्व०, 13.1.17

रूप दोनों वायुओं में एक से बलवर्धन की तथा अन्य से रोगरूपी शत्रु के निराकरण का निवेदन किया गया है।[6]

प्राण देवों के दूत की तरह इस शरीर में तथा विश्व में विचरण करता है। उसकी प्राण-अपान अर्थात् श्वसन-प्रश्वसन क्रियाओं से औषधि लाने और रोगरूपी शत्रु को दूर करने की प्रार्थना की गयी है :

आ वात वाहि भेषजं वि वात वाहि यद् रपः।
त्वं ही विश्वभेषज देवानां दूत ईयसे॥[7]

चाहे नेत्र आदि इन्द्रियों का कोई रोग हो या हृदय का, या मन का कोई विचलन हो, भुवनों के स्वामी से उसके प्रशमन की प्रार्थना है :

शं नो भवतु भुवनस्य यस्पतिः।[8]

और प्राण-अपान के ओजस्वी होने की

ओजो मयि प्राणापानौ।[9]

प्राण, व्यान, उदान के वर्चस्व के लिए यह मंत्र है :

प्राणाय मे वर्चोदा वर्चसे पवस्व
व्यानाय मे वर्चोदा वर्चसे पवस्व
उदानाय मे वर्चोदा वर्चसे पवस्व . . .[10]

विश्वभेषज प्राण शरीर में कार्य कर रहे प्राण-अपान का तथा श्रोत्रादि इन्द्रियों का रक्षक है और मन के लिए प्रशामक है :

प्राणपा मे अपानपाश्चक्षुष्पा श्रोत्रपाश्च मे।
वाचो मे विश्वभेषजो मनसोऽसि विलायकः॥[11]

यह मन ही है जो 'आधि' के रूप में विक्षेप ग्रहण करता है। नकारात्मक चिन्तन द्वारा यह आधि शरीर में व्याधि का रूप ले लेती है। इसलिए मन के स्तर पर ही विश्वभेषज प्राण के आधार से आधि का निराकरण करना चाहिए। प्राण

---

6 अथर्व०, 4.13.2
7 अथर्व०, 4.13.3
8 यजु०, 36.2
9 यजु०, 36.1
10 यजु०, 7.27
11 यजु०, 20.34

अपनी पंचविध क्रियाओं के साथ, शरीर में विद्यमान पंचभूत तत्त्वों से संयुक्त होकर रहता है। यदि प्राण की क्रियाओं में संतुलन एवं सामंजस्य है, गति में आघात या विक्षेप नहीं है तो मन स्वतः स्वाभाविक रूप से स्थिरता एवं शांति ग्रहण करता है। प्राण की अचंचलता मन की अचंचलता है, इसलिए प्राण-वायु का निरोध करना चाहिए :

चले वातं चले चित्तं निश्चले निश्चलं भवेत्।
ततो वायुं निरोधयेत्॥[12]

प्राण सर्व औषधियों का अधीश्वर है। प्राण द्वारा सिंचित औषधियाँ उससे कहती हैं कि तुम हमारी आयु बढ़ाओ, हमें सुगंधित बनाओ :

अभिवृष्टा ओषधयः प्राणेन समवादिरन्।
आयुर्वै नः प्रातीतरः सर्वा नः सुरभीरकः॥[13]

इसी प्राणसूक्त में चार प्रकार की औषधियों का उल्लेख है—आथर्वणी, आङ्गिरसी, दैवी एवं मनुष्यकृत। जब प्राण इनमें जीवन रखता है तब ये उत्पन्न होती हैं :

आथर्वणीराङ्गिरसीर्दैवीर्मनुष्यजा उत।
ओषधयः प्रजायन्ते यदा त्वं प्राण जिन्वसि॥[14]

मनुष्य द्वारा निर्मित औषधियाँ सर्व परिचित हैं।

दैवी औषधियों के अन्तर्गत जल, वायु, सूर्य आदि चिकित्साओं का समावेश है। जलचिकित्सा, सौरचिकित्सा, वायुचिकित्सा आदि चिकित्साओं के परिणाम आश्चर्यजनक गुणकारी प्रभाव उत्पन्न करते हैं। इसके अतिरिक्त मंत्र-शक्ति, यज्ञशक्ति के प्रयोग भी दैवी औषध अथवा चिकित्सा के अंग हैं। देव-कृपा किसी भी रोग पर प्रभावकारी हो सकती है और आरोग्य प्रदान कर सकती है।

तीसरी है आङ्गिरसी औषधियाँ। अंगों, अवयवों एवं इन्द्रियों में एक प्रकार का रस रहता है जिसके कारण प्राणी का शरीर स्थिर रहता है। उस रस के द्वारा जो चिकित्सा होती है, वह आङ्गिरस चिकित्सा है—प्राणशक्ति द्वारा अंग-प्रत्यंग में रस का संचार करने से रोग-निराकरण होता है। आरोग्य के लिए अपने ही शरीर में

---

12 हठयोग०, 2.2

13 अथर्व०, 11.4.6

14 अथर्व०, 11.4.16

रस-वृद्धि करना तथा रस को बनाये रखना इस चिकित्सा का अंग है, जो चमत्कारिक गुणवाला है।

प्राण स्वयं ही आङ्गिरस है :

प्राणो वा अङ्गानां रसः[15]

इस प्राणरूपी रस को रक्षित रखने से सर्वप्रकार का आरोग्य प्राप्त होता है।

चौथी चिकित्सा अथवा औषध है आथर्वणी। यह योगावस्था का सूचक शब्द है जो निश्चल, स्तब्ध, स्थिर योग-स्थिति को प्रकट करता है।

यह चिकित्सा सर्वश्रेष्ठ है, क्योंकि इसमें आत्मा की शक्ति से कार्य होता है।

आत्मा भी प्राण से ही प्राणित है,[16] इसलिए ये सभी औषधियाँ प्राण से ही जीवन प्राप्त करती हैं। औषधि का अर्थ कोई जड़ी-बूटी आदि मात्र नहीं है, चिकित्सा का कोई भी प्रकार जो आरोग्यप्रद हो, वह औषधि है। प्राण का संस्पर्श एवं क्रिया सर्वत्र आवश्यक है। प्राण के अनुकूल होने से ही हर औषध एवं चिकित्सा फलवती होती है।

प्राण से ही प्राण की रक्षा की प्रार्थना की जाती है :

प्राण प्राणं त्रायस्व।[17]

यह प्राण ही है जो प्रजाओं की रक्षा इस प्रकार करता है, जैसे पिता प्रिय पुत्र की :

प्राणः प्रजा अनुवस्ते पिता पुत्रमिव प्रियम्।[18]

शरीर में विद्यमान यह अग्निरूप प्राण है जो प्रतिदिन शोभा एवं पुष्टि प्रदान करता है :

अग्निना रयिमश्नवत् पोषमेव दिवे दिवे।
यशसं वीरवत्तमम्।[19]

---

15 बृहद० उप०, 1.3.19

16 बृहद० उप०, 3.4.1

17 अथर्व०, 19.44.4

18 अथर्व०, 11.4.10

19 ऋग्०, 1.1.3

प्राण ही अमृत का सेतु है :

अमृतस्यैष सेतुः।[20]

यह प्राण ही है जो पूरे अस्तित्व का शोधन कर इस सुन्दर अद्भुत जन्म को चमकाता है :

तव श्रिये मरुतो मर्जयन्त रुद्र यत्ते जनिम चारु चित्रम्।[21]

अथर्ववेद के 'आयु'सूक्त में प्राण-अपान से मनुष्य के शरीर में रहने की प्रार्थना की गयी है। प्राण शरीर का त्याग न करे, अपान शरीर का त्याग न करे। ये बलवान् वृषभ के समान शरीर में संचरण करते रहें और मनुष्य को शतायु प्रदान करें।[22]

प्राण का संतुलित, सामंजस्यपूर्ण दीर्घ-सूक्ष्म संचरण स्थूल पंचभौतिक शरीर को स्वस्थ रखने में सक्षम है। साधक निवेदन करता है कि मित्रावरुण के रूप में विद्यमान प्राणापान वायु प्रकुपित न हों, सदैव हितकारी रहें :

मा हेळे भूम वरुणस्य वायोर्मा मित्रस्य।[23]

वे शक्ति का संचार करें और इन्द्रियों को अपनी मृदुता से सिंचित करते रहें :

प्र बाहवा सिसृतं जीवसे नः।[24]

इन प्राण-अपान-व्यान आदि प्राणों एवं अन्य उपप्राणों से यज्ञ-कार्य में स्वस्थ एवं शक्तिशाली रहने का आग्रह किया गया है :

प्राणश्च मे अपानश्च मे व्यानश्च मेऽसुश्च मे
यज्ञेन कल्पताम्॥[25]

ये प्राण, अपान, समान, व्यान, उदान पूर्ण औषध हैं। ये सर्वरोगहर चिकित्सक शक्तियाँ हैं। शरीर में ये संवादी होकर अपना-अपना कार्य करें और प्राणी को शक्ति प्रदान करें।[26]

---

20 मुंडक उप०, 2.2.5

21 ऋग्० 5.3.3

22 अथर्व०, 7.53.1-7

23 ऋग्०, 7.62.4

24 ऋग्०, 7.62.5

25 यजु०, 18.2

26 यजु०, 22.33

आयु ही प्राण है :

आयुर्न प्राणः।[27]

प्राण रूप जो वायु है, वही आयु एवं जीवन है :

आयुर्वा एष यद्वायुः।[28]

प्राण की सर्वव्यापकता से प्रार्थना है, हे प्राण, तुम्हारी जो तनू वाणी में, श्रोत्र में और चक्षु में प्रतिष्ठित है, उसे मंगलमय करो :

या ते तनूर्वाचि प्रतिष्ठिता या श्रोत्रे या च चक्षुषि।
या च मनसि सन्तता शिवां तां कुरु॥[29]

जीवन की हर रचना प्राण के प्रकाश से प्रकाशित है :

तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।[30]

यह प्राण है जो समस्त दुःख-अनिष्टों का निवारण करता हुआ ऊपर एवं नीचे आता-जाता है :

याति देवः प्रवता यात्युद्वता याति
अप विश्वा दुरिता बाधमानः।[31]

प्राण प्रकाशमान एवं अमृतमय है :

राजा मे प्राणो अमृतम्[32]

यह सब प्राणियों का मधु है :

सर्वेषां भूतानां मधु[33]

प्राण की पाँचो गतियों को प्रणाम कर ऋषि प्राण से अमृतगुणयुक्त भेषज प्रदान करने की प्रार्थना करते हैं :

अथो यद् भेषजं तव तस्य नो धेहि जीवसे।[34]

---

27 ऋग्०, 1.66.1

28 ऐत० उप०, 1.2.10

29 प्रश्न उप०, 2.12

30 मुंडक उप०, 2.2.10

31 ऋग्०, 1.35.3.

32 यजु०, 20.5

33 बृहद० उप०, 2.5.4

34 अथर्व०, 11.4.9

प्राण क्षत्त्र है क्योंकि वह हर क्षत से रक्षा करता है :

क्षत्रं प्राणो वै क्षत्त्रं प्राणो हि वै क्षत्त्रं त्रायते।[35]

प्राण ही प्राणियों की आयु है :

प्राणो हि भूतानामायुः।[36]

प्राण में ही सब संयुक्त एवं अर्पित हैं :

अस्मिन्प्राणे सर्वं समर्पितम्।[37]

प्राण से श्वसन-प्रश्वसन (प्राण) चलता है, प्राण ही जीवन देता है। प्राण ही पिता, माता, भ्राता, बहन, आचार्य, ब्राह्मण है :

प्राणः प्राणेन याति प्राणः प्राणं ददाति। प्राणो ह पिता प्राणो माता प्राणो भ्राता प्राणः स्वसा प्राण आचार्यः प्राणो ब्राह्मणः।[38]

सब परम श्रेयस् रूप इस प्राण की उपासना करते हैं :

प्राणं सर्वं उपासते।[39]

---

35 बृहद॰ उप॰, 5.13.4

36 तैत्ति॰ उप॰, ब्रह्मा॰, 3

37 छान्दो॰ उप॰, 7.15.1

38 वही

39 अथर्व॰, 11.4.12

प्राण,
व्यक्त ब्रह्मन्

प्राण ब्रह्म है, कौषीतकि कहा करते थे।

कौषी॰[1]

प्राण प्रत्यक्ष ब्रह्म है।

तैत्ति॰[2]

सद् ब्रह्म प्राण शब्दवाच्य है।

शंकर[3]

प्राणो वै ब्रह्मेति,[4] उदंक शाल्बायन का कथन है।

प्राणो वै परमं ब्रह्म[5]—याज्ञवल्क्य के वचन हैं।

प्राणो ब्रह्मेति[6]—कौषीतकि कहा करते थे।

उपनिषदों में प्राण के अतिरिक्त अन्य किसी 'देव' को पूर्ण अर्थ में 'ब्रह्म' संज्ञा से अभिहित नहीं किया गया है।

वसु, रुद्र, आदित्य तथा अन्य देव-शक्तियों के विषय में संवाद करते हुए जब विदग्ध शाकल्य पूछते हैं :

कतम एको देव इति ?

तब याज्ञवल्क्य का निस्सन्दिग्ध उत्तर है :

---

1 **प्राणो ब्रह्मेति**

कौषी॰ ब्रा॰ उप॰, 2.1

2 **त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि**

तैत्ति॰ उप॰, शिक्षा॰, 1

3 **सद् ब्रह्म प्राणशब्दवाच्यम्**

शंकरभाष्य, गौडपाद॰, 1

4 बृहद॰ उप॰, 4.1.3

5 वही

6 कौषी॰ ब्रा॰ उप॰, 2.1

प्राण इति
स ब्रह्म त्यदित्याचक्षते[7]

प्राण एक देव है
प्राण ही ब्रह्म है, प्राण 'वह' है।

इस प्राण ब्रह्म का स्वरूप क्या है ?

प्राण का प्रतिनिधित्व करनेवाले वायुदेव को सम्बोधित करते हुए, उपनिषद् के आरंभ में, ऋषि का उद्घोष है :

नमस्ते वायो।
त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि।
त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि।[8]

हे वायु, तुम्हें नमस्कार है। तुम प्रत्यक्ष ब्रह्म हो। प्रत्यक्ष ब्रह्म के रूप में मैं तुम्हारी घोषणा करूँगा।

ऋषि के शब्द हैं :
मैं ऋत कहूँगा।
मैं सत्य कहूँगा।[9]

और यही ऋषि वल्ली के अंत में कहते हैं :
नमस्ते वायो।
त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि।
त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्मावादिषम्।
ऋतमवादिषम्।
सत्यमवादिषम्।[10]

हे वायु, तुम्हें नमस्कार है। तुम प्रत्यक्ष ब्रह्म हो। प्रत्यक्ष ब्रह्म के रूप में मैंने तुम्हारी घोषणा की है। मैंने ऋत कहा है। मैंने सत्य कहा है।

और यह मान्यता नहीं, बल्कि एक स्थापना है वैदिक ऋषियों की।

---

7 बृहद० उप०, 3.9.9
8 तैत्ति० उप०, शिक्षा०, 1
9 वही
10 तैत्ति० उप०, शिक्षा०, [illegible]

उपनिषद्कारों की। यह सत्य का अन्वेषण और साक्षात्कार है। प्राप्त किया हुआ दर्शन।

कि प्राण ही प्रत्यक्ष, प्रकट अथवा व्यक्त ब्रह्मन् है।

'ब्रह्म' परमात्म तत्त्व का वाचक शब्द है, इसलिए
हमारे सम्मुख एक प्रश्न आता है :
क्या ब्रह्म दो हैं ?
नहीं !

परम 'एक' के वाचक 'ब्रह्म' शब्द की द्विवचनीयता अथवा बहुवचनीयता संभव नहीं है।

तब उत्तर क्या है ?
हम स्पष्टीकरण के लिए अपने अध्ययन में अग्रसर होते हैं।

शंकराचार्य प्राण को व्युत्पन्न कार्यलक्षण ब्रह्म स्वीकार करते हैं।
उपनिषद् के इस श्लोकांश :
तस्मादेतद्ब्रह्म . . . जायते।[11]

पर टीका करते हुए उनका कथन है :
तस्मात् कार्यलक्षणं ब्रह्म हिरण्यगर्भाख्यं जायते।[12]

प्राण कार्यलक्षण ब्रह्म है। उसे हिरण्यगर्भ कहते हैं। वह उस सर्वज्ञ अक्षर ब्रह्म से उत्पन्न है।

अन्यत्र भी इस हिरण्यगर्भ के उत्पन्न होने का उल्लेख है :
हिरण्यगर्भं पश्यत जायमानम्[13]

इस जन्म को केवल ऋषि-दृष्टि ने देखा था।
यह हिरण्यगर्भ सृष्टि के पूर्व विद्यमान था :
हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे[14]

आदि में होने के कारण प्राण को आदिदेव भी कहा गया है :

---

11 मुंडक उप०, 1.1.9

12 श्वेता० उप०, 4.12

13 श्वेता० उप०, 4.12

14 ऋग्०, 10.121.1; यजु०, 13.4; 25.10

आदौ स देवः।[15]

जन्म स्वयं में एक प्राकट्य है, एक प्रत्यक्षता।
और यह इसी रूप में अधिक ग्राह्य है।
निष्कर्ष है :
प्राण परात्पर ब्रह्म से उत्पन्न ब्रह्म है।
यह अजात से जात
परोक्ष से प्रत्यक्ष का आविर्भाव है।
निष्कलं '**निष्क्रियं**'[16] शान्तं ब्रह्म से
क्रियमाण '**कार्यलक्षणं**' ब्रह्म का आविर्भाव।

फिर भी, इनमें द्वित्व नहीं है क्योंकि प्राणब्रह्म के रूप में ब्रह्मन् स्वयं का प्रत्यक्षीकरण करता है, अपने अंदर अपना आविर्भाव।

यदि हम इन्हें 'दो' स्वीकार भी करें, तब भी ये दो पक्ष हैं :
स्थैतिक एवं गतिक
एक ही ब्रह्मन् या एक परमात्म तत्त्व के।
इसीलिए प्राण को आत्मा भी कहा गया है :
प्राणो ह्येष आत्मा[17]

अन्तरात्मा प्राणः
एष प्राणः स म आत्मेति[18]

अन्यत्र इसका इस प्रकार उल्लेख है :
यः प्राणेन प्राणति स त आत्मा सर्वान्तरः[19]

अर्थात् जो प्राण से प्राणित है, वही सबका अन्तरस्थ आत्मा है। या आत्मा भी प्राण से ही अनुप्राणित है।

अतः परमात्मा एवं प्राण का एकत्व सिद्ध है।

अन्तर्गत या बहिर्गत होने से एकरूपता में अन्तर नहीं होता।

---

15 श्वेता॰ उप॰ 4.1

16 श्वेता॰ उप॰, 6.19

17 ब्रह्म उप॰, 1

18 कौषी॰ ब्रा॰ उप॰, 3.9

19 बृहद॰ उप॰, 3.4.1

गुप्त या प्रकाशित होने पर तत्त्व एक ही बना रहता है।

इसीलिए उपनिषदों में उस एक देव की द्विविध अभिशंसा है :

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च॥[20]

पर जब उपनिषद् के ऋषि प्राण को 'प्रत्यक्षं ब्रह्म' कहकर उद्घोषित करते हैं या

जब शंकराचार्य प्राण को 'कार्यलक्षणं ब्रह्म' कहते हैं
तब इस रूप में प्राण का विवेचन आवश्यक है।

प्राण गति है अर्थात् क्रिया
और "यह गति ही है जो सृष्टि को संभव बनाती है।"[21]

सृष्टि अभिव्यक्ति है, उस अव्यक्त, परोक्ष, गुप्त अथवा गूढ़ की प्रकाशमयता। और यह उसकी निश्चल, निष्क्रिय, शांत स्थिति से संभव नहीं है। तब वह अपनी परमेच्छा से, अपने ज्ञानमय तप से अपने को रचता है :

यः सर्वज्ञः सर्वविद् यस्य ज्ञानमयं तपः।
तस्मादेतद् ब्रह्म जायते॥[22]

उससे प्राणब्रह्म उत्पन्न अथवा प्रकट होता है और यह प्राकट्य अथवा अभिव्यक्तीकरण ही नाम-रूपात्मक सृष्टि को आविर्भूत करता है :

नाम रूपमन्नं च जायते।[23]

अन्न भौतिक तत्त्व है।

यह सृष्टि एक बहुवर्णी प्रभामंडल है उस व्युत्पन्न ब्रह्म का, जो इसकी असंख्यकता को धारण करता हुआ 'कार्य' में अग्रसर होता है।

प्राण परमात्मा का क्रियाशील ऊर्जस्व है, जिससे वह वृद्धि, विकास और विस्तार को प्राप्त करता है :

तपसा चीयते ब्रह्म[24]

---

20 श्वेता० उप०, 6.11

21 श्रीअरविन्द, दि उपनिषद्स, वाल्यू० 12, पृ० 472

22 मुंडक उप०, 1.1.9

23 वही

24 मुंडक उप०, 1.1.8

अपने इसी विभुत्व से वह स्वयं को समस्त रूपों में रखता है, अपनी इसी सर्वव्यापकता से। और तब सकल भुवनों का जन्म होता है :

विभुत्वेन वर्तसे यतो जातानि भुवनानि विश्वा।[25]

वह जन्म लेता है और विश्व असंख्य रूपों से भर जाता है :

त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः[26]

जो स्वयं में स्थित है, तन्मय—

स तन्मयः[27]

वह ईश्वर में संस्थित होकर—

ईशसंस्थः[28]

इस जगत् का नित्य शासन करता है।

प्रत्यक्ष ब्रह्म इस जगत् का ईश्वर है :

तमीशानं जगतस्तस्थुषस्पतिम्[29]

और जगत् एक प्रकाशन अथवा प्रत्यक्षता।
यह ईश्वर अनेक प्राणों एवं सहस्रों व्यानों को धारण करता है :

शतं ते प्राणाः सहस्रं व्यानाः।[30]

ये असंख्यक गतियाँ हैं, प्राण जिनका स्रोत है।
वस्तुतः प्राण ही सबका ईश्वर—

सर्वस्येश्वरः[31]

तथा समस्त सत्ताओं का स्वामी है :

विश्वस्य सत्पतिः।[32]

---

25 श्वेता० उप०, 4.4

26 श्वेता० उप०, 4.3

27 श्वेता० उप०, 6.17

28 वही

29 ऋग्०, 1.81.5; 8.64.3

30 यजु०, 17.71

31 अथर्व०, 11.4.1

32 प्रश्न० उप०, 2.11

और ऐसा वह अपनी विभुता के कारण है, सर्वव्यापकता के कारण।
वही इस पृथिवी, सूर्य, जगत् का आधार है :
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमाम्[33]

वही विस्तारक और धारक है :
सोऽवृंहयत सोऽधारयत[34]

परमात्म ब्रह्म की अव्यक्तता प्राणब्रह्म में अभिव्यक्त होती है, अपने इस प्रथम एवं पूर्ण आविर्भाव में, अपने पूर्ण ब्रह्मत्व के साथ।

जिस प्रकार शिव की शिवता शक्ति है,
उसी प्रकार ब्रह्म का ब्रह्मत्व प्राण है।
वह आत्मस्थ की आत्मरूपता है,
एकात्म की सर्वान्तरात्मता।

वस्तुतः आत्मस्थित ब्रह्म ही अपने ब्रह्मत्व में अर्थात् अपनी गति-ऊर्जा में बाहर चला गया है :
स पर्यगात्[35]

और उसने ही वस्तुओं को यथास्थान सुव्यवस्थित किया है :
याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधात्[36]

बाहर आने का अर्थ है प्रत्यक्षता।
वस्तुओं को यथास्थान रखने का अर्थ है लोकों का प्रादुर्भाव,
व्यक्ति सत्ताओं का आविर्भाव।
ब्रह्मांड एवं उसके सकल पदार्थों की अपनी-अपनी प्रकृति में स्थिति।

इस प्रत्यक्ष ब्रह्म के द्वारा वह परोक्ष निश्चल ब्रह्म स्वयं को ब्रह्मांडीय गति के बहुल रूपों में प्रकट करता है।

एक, अव्यक्त और निष्क्रिय

---

33 यजु०, 13.4.
34 अथर्व, 4.11.7
35 ईश उप०, 8
36 वही

बहुगः, व्यक्त एवं क्रियाशील
यह द्वित्व केवल एक मानसिक अवधारणा है।

श्रीअरविन्द का कथन है, " 'निश्चल' एवं 'चल', 'शांत' एवं 'गतिमान' तुल्य रूप से एक ही ब्रह्मन् हैं और इनके बीच खींचा गया अंतर हमारी चेतना का ही प्रतिभास मात्र है।"[37]

निष्क्रिय एवं सक्रिय ब्रह्म के द्वित्व की अवास्तविकता के विषय में उनका कहना है, "निष्क्रिय एवं सक्रिय ब्रह्म एक 'आत्म', एक ब्रह्मन् के दो पक्ष मात्र हैं। यह वह है जो गति में बाहर चला गया है। वह अपनी निष्क्रिय सत्ता में स्वयं को सभी परिवर्तनों से मुक्त रखता है। निष्क्रियता कार्य का आधार है जो कार्य में स्थित रहती है। ये एक ही अविभक्त चैतन्य के सकारात्मक एवं नकारात्मक ध्रुव हैं। ...एक निश्चल निष्क्रिय शांत, एक सक्रिय गति—दोनों एक-दूसरे से अपृथक्करणीय, एक-दूसरे पर निर्भर। जो निश्चल है वह गति के साथ संयुक्त स्थित है और गति निश्चल के साथ।"[38]

जब हम कहते हैं कि "वह 'आत्मा' इन दोनों से परे है, तब यह एक अलग दृष्टिकोण होता है, गति और निश्चल के एकत्व से अलग, जब कि वास्तविकता में ये दोनों एक हैं। यदि इसे चेतना की ही एक व्यावहारिक आवश्यकता स्वीकार कर लिया जाये तो यह दृष्टिकोण हमारी चेतना में उनके संबंध को प्रकट करता है। और यह स्पष्ट है कि परमात्मा से तादात्म्य प्राप्त कर हम चेतना के इस युग्म रूप में भाग ले सकते हैं।"[39]

"निश्चल-निष्क्रिय हो या क्रियाशील—यह 'आत्मा' सदा शुद्ध, आनन्दमय और पूर्ण है।"[40]

"अंदर पूर्ण शांति और निष्क्रियता, पवित्रता एवं समानता, बाहर प्रभुत्वपूर्ण अक्षय क्रियाशीलता ब्रह्मन् की प्रकृति है जिसे हम विश्व में प्रकट देखते हैं। ... आत्मा में प्रशान्तता, ऊर्जा में क्रिया, इस युग्मता में दिव्य लय का सामंजस्य है।"[41]

---

37 दि उपनिषद्स, वाल्यू० 12, पृ० 137

38 दि उपनिषद्स, वाल्यू० 12, पृ० 138-139

39 वही

40 दि उपनिषद्स, वाल्यू० 12, पृ० 100

41 दि उपनिषद्स, वाल्यू० 12, पृ० 101

वस्तुतः प्राण की व्यक्त ब्रह्मन् के रूप में पृथक् प्रस्थापना केवल उस ज्ञान, उस बिन्दु तक पहुंचने के लिए है, जो निश्चल, निराकार, निष्क्रिय ब्रह्म में ही हमारा पर्यवसान नहीं करता, बल्कि उसके विश्वव्यापी कार्यलक्षण रूप तक हमें ले जाता है और इस प्रकार हम एकात्मा के विश्वात्मा-रूप के साथ भी तादात्म्य प्राप्त कर लेते हैं। अव्यक्त ब्रह्मन् का व्यक्त ब्रह्मन् के रूप में साक्षात्कार।

निश्चल शांति 'उसकी' अव्यक्तता है और
क्रिया अभिव्यक्ति।

यह अभिव्यक्ति दिव्य हो या भौतिक, सार्विक हो या व्यक्तिक—प्राण की नित्य निरन्तर क्रियाशील प्रकटनशक्ति के कारण है। सृष्टि स्थूल हो या सूक्ष्म—इसकी हर लय एवं ताल प्राण के प्रसार एवं संकोच में सन्निहित है। देश की असीमता या उसका कोई खंड, काल की शाश्वतता या उसका कोई क्षण, दृश्य एवं अदृश्य, गम्य अथवा अगम्य, ज्ञात तथा अज्ञात के भीतर चल रहा कोई भी स्थूल अथवा सूक्ष्म स्पन्दन प्राण के प्राकट्य का प्रतीक है।

अभिव्यक्ति में 'अभिव्यक्त' की सर्वव्यापकता प्राण है।

'उसका' गति में बाहर चले जाना अभिव्यक्ति के लिए है, सृष्टि के लिए है। 'वह' नित्य निष्क्रमणशील है और नित्य प्रत्यावर्तनशील भी। और यह 'गमन' एवं 'आगमन' युगपत् घटित होता है और इसे विभाजित नहीं किया जा सकता।

वस्तुतः अन्तः बाह्य जैसा कुछ नहीं है। ये शब्द केवल स्थिति और गति की अवगम्यता के लिए हैं।

जो व्यक्त है, प्रकट है—प्रत्यक्ष ब्रह्म

वही इस प्रतिपल स्रष्ट हो रही सृष्टि की शक्ति तथा इसका नियम हो सकता है। इसीलिए प्राण को सृष्टि से पूर्व—**समवर्तताग्रे**—तथा सृष्टि के आदि में स्वीकार किया गया है—**आदौ स देवः**।

प्राण ही हर रूप की प्रतिरूपता है :

रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।[42]

यह उस ब्रह्म की 'बहुधा जायमान' शक्ति है जो एक को अनेक, बहुप्रकार कर देती है :

---

42 कठ उप०, 2.2.9-12

एकं रूपं बहुधा यः करोति।[43]

उपनिषद् में अन्यत्र भी अपरोक्ष अथवा प्रत्यक्ष ब्रह्म या आत्मा का उल्लेख मिलता है।

चाक्रायण का याज्ञवल्क्य से प्रश्न है, जो साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म है और सर्वान्तरात्मा है, उसकी क्या व्याख्या है :

यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरस्तं मे व्याचक्ष्व[44]

याज्ञवल्क्य का उत्तर है :

यः प्राणेन प्राणिति स त आत्मा सर्वान्तरो
योऽपानेनापानिति स त आत्मा सर्वान्तरो
यो व्यानेन व्यानिति स त आत्मा सर्वान्तरो
य उदानेनोदानिति स त आत्मा सर्वान्तर एष त आत्मा सर्वान्तरः।[45]

प्रत्यगात्मा ही साक्षात्, प्रत्यक्ष ब्रह्म है।

अन्यत्र एक श्लोक की व्याख्या में आचार्य शंकर सद्ब्रह्म प्राण का उल्लेख करते हैं :

सद् ब्रह्म प्राणशब्दवाच्यम्।[46]

हम इस कथन को, अपने विषय के प्रतिपादन में, व्यक्त सत्ता के अर्थ में ग्रहण कर सकते हैं,

क्योंकि शंकर के ही शब्दों में जो परात्पर ब्रह्म है, वह **'नेति नेति'**, **'यतो वाचो निवर्तन्ते'**, **'न सत्तन्नासद्'** आदि से कहा जाता है।

'सद्' किसी सीमा का नहीं, बल्कि प्रत्यक्षता एवं अस्तित्व का सूचक है। यह व्यक्त सत्ता के जन्म को प्रकट करता है :

ततो वै सदजायत।[47]

यह अभिव्यक्ति अनन्त ऐश्वर्यमयी है।

---

43 कठ० उप०, 2.2.12

44 बृहद० उप०, 3.4.1

45 वही

46 शंकरभाष्य, गौडपाद, 2

47 तैत्ति० उप०, ब्रह्मा०, 7

प्राण का स्तवन करते हुए देवगण कहते हैं, जिस प्रकार रथ-चक्र के केन्द्र से सब आरे जुड़े होते हैं, उसी प्रकार सब प्राण में प्रतिष्ठित हैं :

अरा इव रथनाभौ प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम्।[48]

अन्यत्र आत्मा के लिए भी सदृश कथन है, परम पुरुष के लिए :

अरा इव रथनाभौ कला यस्मिन् प्रतिष्ठिताः
तं वेद्यं पुरुषं वेद[49]

यह प्राण एवं 'पुरुष' के ऐक्य का परिचायक है।

यह प्रत्यक्ष ब्रह्म, परमात्मा की ही, प्रकाशमय विस्तृत छाया है, आत्म-विस्तार। उपनिषद् में इस अपृथक्ता को इन शब्दों में अभिव्यक्त किया गया है :

यथैषा पुरुषे छायैतस्मिन्नेतदाततम्[50]

जिस प्रकार पुरुष में छाया, उसी प्रकार प्राण आत्मा में विस्तृत है।

वह 'परम' बाहर भी है और अंदर भी :

स बाह्याभ्यन्तरः[51]

वह एक देव है। उसके सिवा अन्य कुछ भी नहीं है। यह वही है जो अज है, अजन्मा, अजात—अजः[52] और यही वह है जो 'बहुधा जायमान' है, सृष्टि के हर रूप में।

जो एक बीज को अनेक कर देता है :

एकं बीजं बहुधा यः करोति।[53]

प्राण प्रत्यक्ष ब्रह्म होकर भी अशरीरी है, अमृत है। यह ब्रह्म ही है, तेज ही है :

अयमशरीरोऽमृतः प्राणो ब्रह्मैव तेज एव।[54]

---

48 प्रश्न उप०, 2.6
49 प्रश्न उप०, 6.6
50 प्रश्न उप०, 3.3
51 मुंडक उप०, 2.1.2
52 वही
53 श्वेता० उप०, 6.12
54 बृहद० उप०, 4.4.7

जिस प्रकार सर्प की केंचुली बाँबी पर मृत, परित्यक्त पड़ी रहती है, उसी प्रकार आप्तकाम मनुष्य का देहात्म भाव मृत अथवा परित्यक्त हो जाता है और वह स्वयं में विद्यमान परम तत्त्व के संपर्क में मुक्त अनुभव करता है। यह तत्त्व प्राण ब्रह्मन् है जो तेज है।

दिव्य प्राणतत्त्व इस शरीर में अन्य प्राणों में विभक्त होकर रहता है :

एष प्राण इतरान् प्राणान् पृथक्पृथगेव सन्निधत्ते।[55]

यह प्राण है जो शरीर में विभिन्न प्राण-गतियों के द्वारा विभिन्न क्रियाओं का निर्वाह करता है। जब ज्ञानेन्द्रिय एवं कर्मेन्द्रियों के विषय अपने अवान्तर इन्द्रिय-प्राणों से निकल कर वरिष्ठ (मुख्य) एवं तेजस्वी प्राण के सूक्ष्म स्पन्दनों के अंदर विलीन होने लगते हैं और नीरवता का उदय होता है, तब मनुष्य तेजोमय प्राण का अनुभव करता है, जो ब्रह्म ही है।

यह ब्रह्म ही परम धाम है, जिसमें निहित यह देदीप्यमान जगत् चमकता है :

स वेदैतत् परमं ब्रह्म धाम यत्र विश्वं निहितं भाति शुभ्रम्।[56]

आत्मा एवं प्राण एक हैं। अव्यक्त एवं व्यक्त ब्रह्मन् एक हैं और यह विश्व भी ब्रह्म ही है।

यह सब ब्रह्म है, अमर, अन्य कुछ नहीं। सम्मुख ब्रह्म, पीछे ब्रह्म, दक्षिण एवं उत्तर ब्रह्म, नीचे तथा ऊपर ब्रह्म। वह सर्वत्र प्रसृत है। यह संपूर्ण वरिष्ठ विश्व केवल ब्रह्म ही है :

ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद् ब्रह्म पश्चाद् ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण।
अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्॥[57]

यह जगत् इस विश्वतोमुख देव का,
प्रत्यक्ष एवं साक्षात् ब्रह्म प्राण का प्रसार एवं व्यापकता है।

---

55 प्रश्न० उप०, 3.4

56 मुंडक उप०, 3.2.1

57 मुंडक उप०, 2.2.12

वरिष्ठ प्राण

तब देवों ने उद्गीथ के रूप में मुख्य प्राण का ध्यान किया। जब असुरों ने इस पर प्रहार करने का प्रयत्न किया, वे इस तरह नष्ट हो गये, जैसे एक मिट्टी का ढेला सुदृढ़ शिला से टकरा कर नष्ट हो जाता है।

छान्दो०[1]

"यह प्राणशक्ति है, प्राण, जो हमारी प्राणमय सत्ता और स्नायुतंत्र में काम करता है। उपनिषदों में इसका उल्लेख प्रथम एवं वरिष्ठ प्राण के रूप में है। अन्यत्र इसे मुख्य अर्थात् मुख में रहनेवाला प्राण कहा गया है। यह वह प्राण है जो स्वयं में 'शब्द' को धारण करता है, सृजनात्मक अभिव्यक्ति को। पंच प्राणों में कोई भी प्राण प्रथम अथवा वरिष्ठ प्राण नहीं है। यह प्राण, जिसे उपनिषदों में इतना महत्त्व दिया गया है, शुद्ध प्राणतत्त्व है क्योंकि अन्य इतर प्राण इससे अवर हैं, इससे उत्पन्न हैं और केवल इसकी विशिष्ट क्रियाओं के रूप में काम करते हैं।"[2]

आत्मा की भाँति इस प्राण का आश्रय लेना चाहिए :
प्राण एवात्मत्वेनाश्रयितव्य।[3]

मुख्य प्राण की सर्वोपरिता, शुद्धता एवं श्रेष्ठता को लेकर छान्दोग्य एवं बृहदारण्यक उपनिषद् में सदृश कथोपकथन है।[4]

प्रजापति के दो प्रकार के पुत्र थे—देव एवं असुर। देवों की संख्या कम थी एवं असुरों की अधिक। वे परस्पर स्पर्धा करने लगे। तब देवताओं ने कहा, "हम यज्ञ में उद्गीथ के द्वारा असुरों का अतिक्रमण करें।"

देवताओं ने वाक् से कहा, "तुम हमारे लिए उद्गान करो।" वाक् ने उद्गान

---

1 **अथ ह य एवायं मुख्यः प्राणस्तमुद्गीथमुपासाञ्चक्रिरे तꣳ हासुरा ऋत्वा विदध्वं-सुर्यथाश्मानमाखणमृत्वा विध्वंसेत।**

छान्दो० उप०, 1.2.7

2 श्रीअरविन्द, दि उपनिषद्स, वाल्यू 12, पृ० 159

3 शंकरभाष्य, बृहद० उप०, 1.3.8

4 छान्दो० उप०, 1.2.1-9; बृहद० उप०, 1.3.1-8

किया। जो वाणी में भोग था, उसे उसने देवताओं के लिए गाया और जो वाणी में शुभ भाषण था, उसे अपने लिए गाया। तब असुरों ने जाना कि इस उद्गाता के द्वारा देवता हमारा अतिक्रमण करेंगे अतः उन्होंने पास जाकर वाणी को पाप-विद्ध कर दिया। वाणी जो निषिद्ध भाषण करती है, वही वह पाप है।

इसी प्रकार

घ्राण जो अननुरूप सूँघता है

चक्षु जो अननुरूप देखता है

श्रोत्र जो अननुरूप सुनता है

मन जो अननुरूप संकल्प करता है

इन सब इतर प्राण-शक्तियों अथवा देवशक्तियों को असुरों ने पाप-विद्ध कर दिया।

तब देवताओं ने मुख्य (मुख में रहनेवाले) प्राण से कहा, "तुम हमारे लिए उद्गान करो।" मुख्य प्राण ने उनके लिए उद्गान किया। असुरों ने जाना कि इस उद्गाता के द्वारा देवगण हमारा अतिक्रमण करेंगे। अतः उन्होंने उसके पास जाकर उसे पाप-विद्ध करना चाहा। किंतु जिस प्रकार पाषाण से टकराकर मिट्टी का ढेला नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार वे विध्वस्त होकर नष्ट हो गये। इस प्रकार असुरों का पराभव हुआ और वाग् आदि ने अपना देवत्व प्राप्त किया।

यह प्राण आस्य (मुख) के भीतर है अतः यह अयास्य आङ्गिरस है, क्योंकि यह अंगों का रस है :

आस्येऽन्तरिति सोऽयास्य आङ्गिरसोऽङ्गानां हि रसः।[5]

इस मुख्य प्राण में आसङ्ग का अभाव है, इसलिए यह शुद्ध है और अपराजेय है।

यह प्राण मृत्यु से दूर होने के कारण 'दूर' नाम से ज्ञेय है। जो ऐसा जानता है, मृत्यु उससे दूर रहती है :

दूरं ह वा अस्मान्मृत्युर्भवति य एवं वेद।[6]

वैश्विक स्तर पर प्राण, वरिष्ठ प्राण अप्रतिहत ध्वनि के रूप में ब्रह्मांड मुख-रंध्र में रहता है और व्यक्तिक स्तर पर मुख्य प्राण के रूप में मुख में। यह प्राण अपराजेय है एवं अमृत है।

---

5 बृहद० उप०, 1.3.8

6 बृहद० उप०, 1.3.9

यह मुख्य प्राण ही है जो वाक्, चक्षु आदि इतर देव-प्राणों के मृत्युरूपी पाप को नष्ट कर उन्हें अमरत्व में प्रतिष्ठित करता है।[7]

वाणी मृत्यु से पार होकर अग्निरूप में देदीप्यमान है
घ्राण मृत्यु से पार होकर वायु रूप में प्रवहमान है
चक्षु मृत्यु से पार होकर सूर्य रूप में तपता है
श्रोत्र मृत्यु से परे दिशाओं के रूप में विद्यमान है
मन मृत्यु से अतिक्रान्त होकर चन्द्रमा बन चमकता है।[8]

यह मुख्य प्राण उसे भी मृत्यु से पार ले जाता है जो उसे इस प्रकार जानता है :

एवं ह वा एनमेषा देवता मृत्युमतिवहति य एवं वेद।[9]

मुख्य प्राण ही वह प्राण है जो अन्य प्राणों का पोषण करता है। जो भी यह खाता-पीता है, वह अन्य प्राणों को प्राप्त होता है :

यदश्नाति यत्पिबति तेनेतरान्प्राणानवति।[10]

ब्रह्मांडीय, वरिष्ठ प्राण ही वह प्राण है जो स्वयं को पंचधा विभक्त करके शरीर में प्रवेश करता है :

यस्मिन् प्राणः पञ्चधा संविवेश।[11]

वरिष्ठ प्राण ने स्वयं को पंचधा विभक्त क्यों किया? क्योंकि वह महाशक्तिशाली प्रजापति प्राण स्वयं को वायु रूप करके भी अपने परम एकत्व में इस शरीर में प्रवेश नहीं कर सका :

स एको नाशकत्[12]

तब उसने स्वयं को प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान आदि पाँच गति-प्रकारों में अर्थात् पाँच अवान्तर प्राणों में विभक्त किया और शरीर में प्रवेश किया :

---

7 बृहद० उप०, 1.3.11
8 बृहद० उप०, 1.3.12-16
9 बृहद० उप०, 1.3.16
10 छान्दो० उप०, 1.2.9
11 मुंडक उप०, 3.1.9
12 मैत्री उप०, 2.6

स पञ्चधात्मानं विभज्य-
यः प्राणोऽपानः समान उदानो व्यान इति।[13]

प्राण सर्व देवों में वरिष्ठ है, प्रथम होनेके कारण ज्येष्ठ और सर्वोपरि होने के कारण श्रेष्ठ :

प्राणो वै ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च।[14]

प्राणो वाव ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च।[15]

आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी, वाग्, मन, चक्षु, श्रोत्र, ये नौ देव प्राणी को स्थित एवं प्रकाशित करते हैं।[16]

भार्गव विदर्भन ने ऋषि पिप्पलाद से प्रश्न किया :
भगवन् कः पुनरेषां वरिष्ठः ?[17]
इनमें वरिष्ठ कौन है ?

जब सब देव अपनी अहम्मन्यता प्रकट करने लगे, तब प्राण ने कहा, मोह मत करो, यह मैं हूँ जो स्वयं को पंचधा विभक्त कर ईश्वर की इस तंत्री को स्थित रखता हूँ :

अहमेवैतत्पञ्चधात्मानं प्रविभज्यैतद्बाणमवष्टभ्य विधारयामीति।[18]

जब उन्होंने विश्वास नहीं किया तब प्राण रुष्ट होकर जाने लगा। पर जब प्राण उत्क्रमण करता है, तब सब उत्क्रमण करते हैं, जब प्राण स्थित रहता है तब सब स्थित रहते हैं :

तस्मिन्नुत्क्रामत्यथेतरे सर्व एवोत्क्रामन्ते
तस्मिꣳश्च प्रतिष्ठमाने सर्व एव प्रातिष्ठन्ते।[19]

---

13 मैत्री उप०, 2.6
14 बृहद० उप०, 6.1.1
15 छान्दो० उप०, 5.1.1
16 प्रश्न उप०, 2.2
17 प्रश्न उप०, 2.1
18 प्रश्न उप०, 2.3
19 प्रश्न उप०, 2.4

प्राण ने अपनी वरिष्ठता प्रमाणित की। सबने प्रसन्न होकर प्राण का स्तवन किया।

अब आश्वलायन कोशलन का प्रश्न था, यह प्राण इस शरीर में कैसे आता है और स्वयं को विभक्त कर कैसे स्थित रहता है ?

कथमायात्यस्मिञ्शरीरे आत्मानं वा प्रविभज्य कथं प्रातिष्ठते ?[20]

ऋषि पिप्पलाद का उत्तर है, जैसे किसी पुरुष की छाया पड़ती है, वैसे ही यह प्राण आत्मा में विस्तृत होता है और मन की क्रिया से यह शरीर में प्रवेश करता है :

यथैषा पुरुषे छायैतस्मिन्नेतदाततं मनोकृतेनायात्यस्मिञ्शरीरे।[21]

यह वरिष्ठ प्राण सम्राट् की भांति है।

जिस प्रकार एक सम्राट् अपने अधिकारियों को पृथक्-पृथक् स्थानों पर शासन करने के लिए नियुक्त करता है, वैसे ही यह वरिष्ठ प्राण इतर प्राणों को कार्यपालन के लिए विभिन्न स्थानों पर रहने का आदेश देता है :

यथा सम्राडेवाधिकृतान् विनियुङ्क्ते। एतान् ग्रामानेतान् ग्रामानधितिष्ठस्वे-त्येवमेवैष प्राण इतरान् प्राणान् पृथक्पृथगेव सन्निधत्ते।[22]

यह प्राण ही है जो वाक्, श्रोत्र, चक्षु एवं मन आदि इतर प्राणों के रूप में रहता है।

शरीर में स्थित ये शक्तियां प्राण से प्रार्थना करती हैं—हे प्राण, यह तुम्हारा तनू ही है जो वाणी, श्रोत्र एवं चक्षु में स्थित है और जो मन में विस्तृत है, इसे मंगलमय करो, हमारे बीच से उत्क्रमण न करो :

या ते तनूर्वाचि प्रतिष्ठिता या श्रोत्रे या च चक्षुषि।
या च मनसि सन्तता शिवां तां कुरु मोत्क्रमीः॥[23]

यह प्राण की वरिष्ठता ही है जो सब कुछ हो जाती है।

कोई भी यह नहीं कहता कि यह वाक् है या चक्षु अथवा श्रोत्र एवं मन है।

---

20 प्रश्न उप०, 3.1

21 प्रश्न उप०, 3.3

22 प्रश्न उप०, 3.4

23 प्रश्न उप०, 2.12

सब इन्हें प्राण ही कहते हैं क्योंकि यह प्राण ही है जो वाक्-चक्षु आदि हो जाता है :

न वै वाचो न चक्षूꣳषि न श्रोत्राणि न मनाꣳसीत्याचक्षते प्राणा इत्येवाचक्षते। प्राणो ह्येवैतानि सर्वाणि भवति।[24]

अपनी व्यापकता के कारण यह प्राण पिता है—
सब इसकी प्रजाएँ हैं :
पिता त्वं मातरिश्व नः।[25]

इमाः प्राण ते प्रजाः।[26]

प्राण की श्रेष्ठता सब स्वीकार करते हैं :
त्वं नः श्रेष्ठोऽसि।[27]

ब्रह्म के लिए ज्येष्ठसूचक वैशिष्ट्य प्राण के साथ संयुक्त है। तीनों कालों में व्याप्त तथा जो दिव्य लोक का भी अधिष्ठाता है, उस ज्येष्ठ ब्रह्म प्राण को नमस्कार किया गया है :

यो भूतं च भव्यं च सर्वं यश्चाधितिष्ठति।
स्वर्यस्य च केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥[28]

प्राण की वरिष्ठता वायु रूप में भी दर्शनीय है। जब अग्नि, सूर्य, चन्द्र आदि देवता अस्त को प्राप्त होते हैं तब वायु इन्हें आत्मलीन कर लेता है। इसी प्रकार यह प्राण निद्रा के समय वाणी, चक्षु, श्रोत्र, मन आदि इतर प्राणों को स्वयं में लय कर लेता है :

स यदा स्वपिति प्राणमेव वागप्येति प्राणं चक्षुः प्राणꣳ श्रोत्रं प्राणं मनः प्राणो ह्येवैतान्सर्वान्संवृङ्क्त इति।[29]

प्राण हर प्रकार से श्रेष्ठ है। यही वह धुरी है जिसके साथ सब संयुक्त हैं :

---

24 छान्दो० उप०, 5.1.15
25 प्रश्न उप०, 2.11
26 प्रश्न उप०, 2.10
27 छान्दो० उप०, 5.1.12
28 अथर्व०, 10.8.1
29 छान्दो० उप०, 4.3.3

यथा वा अरा नाभौ समर्पिता एवमस्मिन्प्राणे सर्वꣳ समर्पितम्...।[30]

सब प्राण पर निर्भर हैं यहाँ तक कि प्रज्ञामात्राएँ भी संज्ञान के लिए प्राण पर निर्भर हैं :

प्रज्ञामात्राः प्राणेऽर्पिताः।[31]

प्राण अन्य किसी पर निर्भर नहीं है, वह अपनी शक्ति से ही संचरण करता है :

प्राणः प्राणेन याति।[32]

समस्त वस्तुएँ, उपकरण, कर्म एवं परिणाम प्राण में ही अन्तर्निहित हैं। यह प्राण ही है जो वस्तु या विषय को प्राण प्रदान करता है :

प्राणः प्राणं ददाति।[33]

इस प्राण की वरिष्ठता से यह जगत् भी वरिष्ठ है, भव्य, महिमाशाली, सुन्दर। ब्रह्मरूप :

ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्।[34]

जो इस प्राण को जानता है वह ब्रह्मज्ञानियों में अग्रणी एवं श्रेष्ठ है :

एष ब्रह्मविदां वरिष्ठः।[35]

प्राण सम्राट् है।[36]

इस विराट्, देष्ट्री प्राण की सब उपासना करते हैं :

प्राणो विराट् प्राणो देष्ट्री प्राणं सर्व उपासते।[37]

---

30 छान्दो उप०, 7.15.1

31 कौषी० ब्रा० उप०, 3.8

32 छान्दो० उप०, 7.15.1

33 वही

34 मुंडक उप०, 2.2.12

35 मुंडक उप०, 3.1.4

36 प्रश्न उप०, 3.4

37 अथर्व०, 11.4.12

चित् एवं चित्शक्ति प्राण

जो आत्मा एवं बल का प्रदाता है। सब जिसकी उपासना करते हैं और देवता भी जिसके आदेशों का पालन करते हैं। जिसकी छाया अमृत है और मृत्यु भी। हम हवि से अन्य किस देव की उपासना करें?

ऋग्०[1]

पवित्र और देदीप्यमान था उसका जन्म, 'कालातीत' से

सावित्री[2]

परमात्मा सत्-चित्-आनन्द जिन तीन वैशिष्ट्यों से जाना जाता है, चित् उनमें से एक है और यह शुद्ध चेतना है।

चित्शक्ति चैतन्य की प्रज्ञानमय गत्यात्मक ऊर्जा है
और यह ऊर्जा प्राण है।

जब हम चित् अथवा चैतन्य को परिभाषित करने का प्रयत्न करते हैं, तब केन्द्रीय रूप से यही सत्य प्रत्यक्ष होता है कि चैतन्य आत्मा है:

चैतन्यमात्मा।[3]

और यह अपने परम अर्थ में विश्व का आत्मा है:

चैतन्यपरमार्थतः . . . विश्वस्य आत्मा।[4]

सर्वात्मा एवं अन्तरात्मा।

चैतन्य शब्द को परिभाषित करते हुए क्षेमराज का कथन है कि चैतन्य ज्ञान

---

1 य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः।
यस्य च्छायामृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम॥

ऋग्०, 10.121.2

2 श्रीअरविन्द, सावित्री, वाल्यू० 28, पृ० 118

3 शिवसूत्र, 1

4 क्षेमराज भाष्य, शिवसूत्र, 1

एवं क्रिया का पूर्ण स्वातंत्र्य है :

. . . चैतन्यं सर्वज्ञानक्रियासम्बन्धमयं परिपूर्ण स्वातन्त्र्यं उच्यते।[5]

इस दृष्टि से कश्मीर शैव-दर्शन ने एक ऐसी चेतना को चित्, चैतन्य अथवा 'संवित्' स्वीकार किया है जो ज्ञान एवं क्रिया में पूर्ण स्वतंत्र अर्थात् प्रभुता-संपन्न है।

ज्ञान शब्द प्रकाश का परिचायक है और क्रिया शब्द अन्तःगर्भित शक्ति एवं गत्यात्मक ऊर्जा का।

चैतन्य में सन्निहित ज्ञान एवं क्रिया उस परम विद्यमान सत्ता (सत्) की शक्तियाँ हैं। श्रीअरविन्द के शब्दों में, "चित् में चेतना ज्योतिर्मय, मुक्त, असीम और प्रभावशाली है; चित् के रूप में यह ज्ञान (ज्ञानशक्ति) अचूक एवं निःशंक रूप से तपस् (क्रियाशक्ति) को पूर्ण करता है, क्योंकि ज्ञानशक्ति स्थिर एवं व्यापक है और क्रियाशक्ति उस स्वयंप्रभ चैतन्य सत्ता का गतिशील, तीव्र एवं प्रगाढ़ रूप है। ये दोनों ही सत् पुरुष की चैतन्य-शक्तियाँ हैं।"[6]

परमात्मा चैतन्य ही है, अपने परात्पर सत्य में पूर्ण चैतन्य। 'विश्वमय' एवं 'विश्वातीत' या विश्वोत्तीर्ण, शुद्ध और निरपेक्ष सत्ता अपने चैतन्य में उतनी ही शुद्ध, निरपेक्ष, शाश्वत एवं असीम है।

यह सत् के चैतन्य का शुद्ध आकाश है जिसमें सारे भुवन अभिव्यक्त एवं स्थित होते हैं। "यह चेतना की पारदर्शक भित्ति है जहाँ विश्व उन्मीलित होता है।"[7]

वुडरॉफ के शब्दों में, "यह चित् सर्व में एक है, समान है। यह अविभक्त एवं असीम है, सर्वव्यापक और सर्वातीत है। यह आकाश के समान सर्वव्यापी सार्विक चेतना है—अखण्ड, शाश्वत, आत्मिक सार-तत्त्व। जिस प्रकार आकाश में सब अस्तित्व में स्थित रहते हैं, उसी प्रकार 'चिदाकाश' में यह जगत् प्रकट एवं लुप्त होता है। सत्-चेतना के इस महासागर में हम रहते और संचरण करते हैं। इसी में हमारी सत्ता है।"[8]

---

5 क्षेमराज भाष्य, शिवसूत्र, 1

6 दि आवर ऑफ गॉड, वाल्यू० 17, पृ० 63

7 प्रत्यभिज्ञा०, 2

8 जॉन वुडरॉफ, शक्ति एंड शाक्त, पृ० 175

चैतन्य स्वयंप्रभ है अर्थात् स्वयं प्रकाशमान। अन्य सारे प्रकाश इसकी छायाएँ मात्र हैं। वस्तुतः, इसके प्रकाश से ही सब प्रकाशित होते हैं :

तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।[9]

जो समस्त चेतनाओं में चेतन है :

चेतनश्चेतनानाम्[10]

वही 'वह' है चैतन्य आत्मा।

चैतन्य सर्व सीमाओं से मुक्त आत्मा का रूप है। यह परमात्मस्वरूप है :

परमात्मस्वरूपं तु सर्वोपाधिविवर्जितम्।
चैतन्यमात्मनो रूपम्...।[11]

यह आत्मा सर्वत्र निर्विशेष रूप से उपस्थित है और चैतन्यधर्मा है :

चिद्धर्मा सर्वदेहेषु विशेषो नास्ति कुत्रचित्।[12]

यह परम कल्याणमय एवं तेजोरूप है :

तेजो यत् ते रूपं कल्याणतमं...[13]

चिदात्मा ही वह देव है जो अपनी परम स्वतंत्र इच्छा से अन्तःस्थित जगत् को बाहर प्रकाशित करता है :

चिदात्मैव हि देवोऽन्तःस्थितमिच्छावशाद् बहिः ... प्रकाशयेत।[14]

यह चैतन्य की स्वतंत्र एवं सर्व-सृजनशील आत्म-अभिज्ञा है, जो स्वयं को विभिन्न, अनन्त और असंख्य रूपों में सूत्रबद्ध करती है। "चित् केवल ज्ञान नहीं है, अभिव्यक्तिशील संकल्प भी है, ग्रहणशील दृष्टि ही नहीं है, निर्माणात्मक प्रस्तुतीकरण भी है; वस्तुतः उसमें दोनों शक्तियों का समावेश है। 'चित्' में 'सत्' की क्रिया है, शून्य की नहीं।"[15]

---

9 कठ उप०, 2.2.15
10 कठ उप०, 2.2.13
11 नेत्रतंत्र, 8.28
12 विज्ञानभैरव, 100
13 ईश उप०, 16
14 ईश्वरप्रत्य०, 1.5.7
15 श्रीअरविन्द, दि उपनिषद्स, वाल्यू० 12, पृ० 80

चित् अथवा चैतन्य में अन्तर्निहित ज्ञान एवं क्रिया शक्ति पर प्रकाश डालते हुए श्रीपंडित का कथन है, "कश्मीर शैव-दर्शन में चैतन्य का एक ऐसे कम्पन के रूप में वर्णन किया गया है जो सदा स्वयं-व्यक्त है। यह स्वयं-व्यक्त होना सूक्ष्म ज्ञान का निर्देश करता है। यह ज्ञान अथवा जानना व्यक्तिपरक है...। चैतन्य को क्रिया के रूप में भी प्रस्तुत किया जा सकता है क्योंकि यह स्पन्दन के रूप में अनुभव का विषय है। क्रिया यह इसलिए भी है क्योंकि यह प्रत्यक्ष होती है और इसमें स्वयं की अभिज्ञा है। ज्ञान एवं क्रिया को चैतन्य के दो मूलभूत पक्षों के रूप में स्वीकार किया जा सकता है।"[16]

श्रीअरविन्द के शब्दों में, "चैतन्य का सत्त्व-सारांश शक्ति है जिसमें स्वयं का और अपने विषयों का ज्ञान है। अपनी वास्तविक प्रकृति में यह शक्ति प्रत्यक्ष, स्वयं-पूर्ण एवं समग्र है।"[17]

"चैतन्य खंडों का संयोजन नहीं है। यह मूलभूत सत्ता है जो प्राकट्य के लिए किन्हीं भी खंडों का चयन कर उन्हें सूत्रबद्ध करती है। उन्हें आध्यात्मिक स्तरों से भौतिक स्तरों तक अवरोहणशील अनुक्रमिक तारतम्यों में विकसित करती है।"[18]

चैतन्य मूलभूत वस्तु है, सत्ता में निहित एक आधारभूत वास्तविकता। यह चैतन्य ही है, उसकी गति जो विश्व की एवं इसमें विद्यमान हर वस्तु की रचना करती है। यह ब्रह्मांडीय समष्टि, यह व्यक्ति-जगत् चैतन्य के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है।

चेतन जगत् हो या अवचेतन अथवा अचेतन जगत्—चेतना प्रत्यक्ष या संगुप्त रूप से सर्वत्र विद्यमान एवं क्रियाशील है।

चेतना की नित्य एवं सर्वत्र विद्यमानता का वैज्ञानिक विश्लेषण करते हुए श्रीअरविन्द के शब्द हैं, "चेतना अपनी गति में बल्कि गति के एक निश्चित दबाव में जब क्रिया के अन्दर स्वयं को भूल जाती है तब प्रत्यक्षता में यह 'अचेतन' ऊर्जा हो जाती है। जब यह स्वयं को रूप या आकार में भूलती है, तब यह विद्युदणु, परमाणु, भौतिक वस्तु बन जाती है। वास्तविकता में यह तब भी चेतना ही है जो ऊर्जा में कार्य करती है और रूप एवं रूप के विकास का निश्चय करती है।"[19]

---

16 बी० एन० पंडित, स्पेसिफ़िक प्रिंसिपल्स ऑफ कश्मीर शैविज़्म, पृ० 41

17 दि लाइफ़ डिवाइन, वाल्यू० 19, पृ० 1017

18 श्रीअरविन्द, लैटर्स ऑन योग, वाल्यू० 22. पृ० 236-237

19 वही

चैतन्य-सत्ता स्वयं में एक एवं अखंड है, पर आत्म-प्रकाशनशील तत्त्व होने के कारण प्राकट्य में यह अनेक तत्त्वों, स्तरों एवं लोकों का प्रकाशन करती है। इसका अवरोहणशील एवं आरोहणशील गति-संचलन श्रेणीबद्ध रूप से अनेक तारतम्यों में अभिव्यक्त होता है।

श्रीअरविन्द में व्यक्त सत्ता के सात तत्त्वों अथवा अभिव्यक्तिशील चेतना के सात सोपानों का विशद विश्लेषण प्राप्त होता है। सारांश में यह निरूपण इस प्रकार है—"प्रथम तीन मौलिक एवं मूलभूत तत्त्व हैं और वे चैतन्य की सार्विक अवस्थाओं को निर्मित करते हैं। आत्मिक सत्ता के इन तीन परम स्तरों में दिव्य सत्ता (सत्) के एकत्व, दिव्य चेतना (चित्) की शक्ति एवं दिव्य हर्ष (आनन्द) के आनन्द को अनुभव किया जा सकता है। चौथा तत्त्व विज्ञान है—सत्य चेतना का लोक, जो अनन्त विविधता में एकत्व का प्रकाशक है और जो स्वयं 'असीम' के आत्म-संकल्प की शक्ति है। . . . सत्-चित्-आनन्द की यह चतुष्क शक्ति 'परार्ध' को संघटित करती है। प्राकट्य का यह परार्ध आत्मा के शाश्वत ज्ञान पर आधारित है।

ये पूर्ण स्वातंत्र्य एवं ज्ञान के स्तर हैं।"[20]

"ऊर्ध्व गोलार्ध में आत्मा का पूर्ण एवं शाश्वत आधिपत्य है। वहाँ यह अपनी अनन्तताओं में बिना किसी न्यूनता या विराम के अभिव्यक्त होती है। अपनी असीम सत्ता, चेतना एवं आनन्द के अ-प्रच्छन्न प्रभामंडलों को विस्तृत करती है।"[21]

"सत्ता के अन्य तीन स्तर 'अपरार्ध' का निर्माण करते हैं। प्राकट्य का यह निचला गोलार्ध मन-प्राण-शरीर के स्तरों का अभिव्यंजक है। वस्तुतः ये तीनों स्वयं में ऊर्ध्वतर तत्त्वों की शक्तियाँ हैं। ऊर्ध्व चतुष्क ही इनका आध्यात्मिक स्रोत है। किंतु जब ये अपने मूल उद्गम से पृथक् होकर प्रकट होते हैं, तब परिणामस्वरूप ये एक प्रतिभासिक ह्रास को सहन करते हैं और अविभक्त सत्ता के स्थान पर विभाजन को प्राप्त हो जाते हैं।"[22]

सार रूप में अवास्तविक, लेकिन व्यवहार में तीक्ष्ण यह पृथक्करण मनुष्य

---

20 दि लाइफ़ डिवाइन, वाल्यू० 19, पृ० 662-663

21 श्रीअरविन्द, दि सिन्थेसिस ऑफ योग, वाल्यू० 20, पृ० 446

22 श्रीअरविन्द, दि लाइफ़ डिवाइन, वाल्यू० 19, पृ० 662-663

के संपूर्ण अस्तित्व को विभाजित कर देता है, मनुष्य जो एक लघु ब्रह्मांड है। और इसी प्रकार यह विश्व-सत्ता अर्थात् ब्रह्मांड को भी विभाजित करता है। दोनों में ही ऊर्ध्व गोलार्ध (परार्ध) एवं निम्न गोलार्ध (अपरार्ध) हैं।[23]

सत्-चित्-आनन्द विश्व-सत्ता का 'परार्ध' है, इसकी प्रकृति अमृत है। भौतिक में मर्त्य सत्ता की स्थिति 'अपरार्ध' है, इसकी प्रकृति मृत्यु है।

विज्ञान-सहित "ये सात तत्त्व संपूर्ण ब्रह्मांडीय सृष्टि के आधारभूत तत्त्व हैं। उच्चतर त्रित्व (सत्-चित्-आनन्द) संपूर्ण सत्ता का मूल एवं स्रोत है।"[24]

चेतना के इन सात स्तरों को सात लोकों से अभिहित किया गया है:

शरीर भूः लोक है
प्राण भुवः लोक है
मन स्वः लोक है
विज्ञान महः लोक है
आनन्द जनः लोक है
चित् तपः लोक है
सत् सत्य लोक है।

श्रुति में इन्हें सात तन्तुओं के प्रतीक के रूप में प्रस्तुत किया गया है, जिनसे सर्वज्ञ देवगण एक शिशु का बाना बुनते हैं:

पाकः पृच्छामि मनसाऽविजानन् देवानामेना निहिता पदानि।
वत्से बष्कयेऽधि सप्त तन्तून् वि तत्निरे कवय ओतवा उ॥[25]

ये अंदर स्थापित किये गये देवताओं के सात पद अर्थात् स्तर हैं।

चित् तपो लोक है, शुद्ध संकल्प, परम स्वतंत्र 'इच्छा' एवं शक्ति का लोक। "चित् के दो पक्ष हैं—प्रकाशमानता एवं प्रभावशालिता। आत्म-ज्ञान की स्थिति एवं आत्म-शक्ति की स्थिति। इनके द्वारा परम 'सत्ता' स्वयं को स्थैतिक स्थिति अथवा गत्यात्मक संचलन में धारण करती है। अपने सृजनात्मक कार्य में अपनी सर्वशक्तिशालिनी आत्म-चेतना के द्वारा यह अंदर प्रच्छन्न एवं गूढ़ सब वस्तुओं का

---

23 श्रीअरविन्द, दि सिन्थेसिस ऑफ योग, वाल्यू॰ 20, पृ॰ 446
24 श्रीअरविन्द, दि लाइफ डिवाइन, वाल्यू॰ 18, पृ॰ 265
25 ऋग्॰, 1.164.5

ज्ञान प्राप्त करती है और एक सर्वज्ञ आत्म-ऊर्जा के द्वारा अपनी अन्तःशक्तियों के जगत् को उत्पन्न एवं संचालित करती है।[26]

तपस् का अर्थ है शक्ति, ऊर्जा।

चित्-तपस् प्राण की ऊर्जाशक्ति का दिव्य प्रतिरूप है।

शुद्धतम एवं पवित्र।

शक्ति आद्य ब्रह्मांडीय ऊर्जा है, जो जगत् में दिव्य योजना को प्रतिपल घटित एवं क्रियान्वित करती है।

प्राण चैतन्य की शक्ति है—चित्शक्ति।

चित् एवं चित्शक्ति में संबंध की अन्यता का अभाव है। शक्ति चैतन्य का अन्तःगर्भित सत्य है। इस दृष्टि से प्राण चैतन्य का अन्तर्निहित वैशिष्ट्य अथवा स्वभाव है। यह प्राण ही है जो सत्ता में पहले से विद्यमान सर्व सत्ताओं को प्रतीयमानता प्रदान करता है, उन्हें उत्पन्न या प्रकट करता है। यह प्राण-पुरुष है जो चेतना की पृथक् किरणों को बाहर प्रसृत करता है :

प्रभवः सर्वभावानां सतामिति विनिश्चयः।
सर्वं जनयति प्राणश्चेतोंशून्पुरुषः पृथक्॥[27]

यह बीजात्मा प्राण है जो सबको उत्पन्न करता है :

सर्वभावान् प्राणो बीजात्मा जनयति।[28]

चित्-तपस् का अर्थ है—चैतन्य का आत्म-'संकल्प' के अंदर केन्द्रीकरण, इच्छा एवं ज्ञान के प्रकाश में सघन हो जाना, तपना—

स तपोऽतप्यत[29]

और तब जन्मों में, आविर्भावों में बाहर निकल आना—

स पर्यागात्[30]

पर यह 'बाह्यता' अन्यत्र होना नहीं है। यह विच्छेद भी नहीं है और न तो

---

26 श्रीअरविन्द, दि लाइफ़ डिवाइन, वाल्यू०, 18, पृ० 262

27 गौडपाद०, 6

28 शंकरभाष्य, गौडपाद०, 6

29 प्रश्न उप०, 1.4

30 ईश उप०, 8

अंदर न्यून अथवा क्षीण हो जाना है। बल्कि यह संहत एवं संकेन्द्रित तपस् का आत्म-विस्तार है। यह वस्तुओं को अथवा विषयों को अदृश्यता में से निकालकर प्रतीयमानता में ले आना है।

वस्तुतः यह अन्तःस्थित का बहिर्प्रादुर्भाव है।

जो उस एक में स्थित है :
भूतपृथग्भावमेकस्थं[31]

उसी से विस्तृत है :
तत एव च विस्तारम्[32]

जिसमें यह संपूर्ण सृष्टि स्थित है, उसी से यह निष्क्रमण करती है :
यत्र स्थितमिदं सर्वं कार्यं यस्माच्च निर्गतम्।[33]

जिस प्रकार विशाल वट-वृक्ष अन्तःगर्भित रूप से बीज में अवस्थित रहता है, उसी प्रकार यह संपूर्ण चराचर विश्व परम चैतन्यमयी आत्मा के हृदय-बीज में स्थित रहता है—

यथा न्यग्रोधबीजस्थः शक्तिरूपो महाद्रुमः।
तथा हृदयबीजस्थं जगदेतच्चराचरम्॥[34]

और वहीं से प्राकट्य को प्राप्त होता है।

प्राण स्वयं बीजात्मा है, उत्पन्न करने की शक्ति।

चराचर, सर्वभावान्, सर्वमिदम् आदि शब्द संपूर्ण विश्व के परिचायक हैं।

उपनिषदों में इस सत्य को अनेक रूपों में प्रकाशित किया गया है कि यह संपूर्ण विश्व प्राण में ही संचरण करता है और प्राण से ही निःसृत होता है :
यदिदं किञ्च जगत्सर्वं प्राण एजति निःसृतम्।[35]

प्राण की सर्वव्यापिनी शक्ति अचर में भी क्रियाशील है। वहाँ भी वह है, जहाँ श्वास-प्रश्वास नहीं है :

---

31 भगवद्गीता, 13.31

32 वही

33 स्पन्दकारिका, 2

34 परात्रिंशिका, 25

35 कठ० उप०, 2.3.2

प्राणो ह सर्वस्येश्वरो यच्च प्राणति यच्च न।[36]

चित्-तपस्, चित्-ऊर्जा, चित्शक्ति—ये सब शब्द प्राण के पर्याय हैं और जीवन भी; क्योंकि यह प्राण है जो जगत् में जीवन का प्रतिनिधित्व करता है।

"यदि चेतना केन्द्रीय सत्य है तो जीवन (प्राण) बहिर्मुखी निर्देश एवं लक्षण, भौतिक तत्त्व में होने की प्रभावकारी शक्ति। क्योंकि यह वह है जो चैतन्य को मुक्त करता है और इसे इसका रूप प्रदान करता है और भौतिक कार्य में इसे कार्यान्वित करता है।"[37]

जीवन-शक्ति या प्राणिक ऊर्जा अणु पर्यंत सभी रूपों में उपस्थित है, क्योंकि सर्वत्र यह है और सर्वत्र इसी चैतन्य-शक्ति का कार्य आकार ले रहा है। यह सर्वव्यापी 'जीवन' है जो इस संपूर्ण भौतिक जगत् में अभिव्यक्त है।

"यह सर्वव्यापी 'जीवन' या गत्यात्मक ऊर्जा है जो भौतिक जगत् के समस्त रूपों की रचना करती है। अविनाशी और शाश्वत जीवन। जगत् का यदि पूरा चित्र समाप्त कर दिया जाये, तब भी यह स्वयं को कायम रख सकता है और उसके स्थान पर एक नये जगत् की रचना कर सकता है। यह निरन्तर अपरिहार्य रूप से रचनाशील रह सकता है, यदि कोई उच्चतर शक्ति इसे विश्राम की स्थिति में रोक न ले या यह स्वयं ही न रुक जाये। ... जीवन 'शक्ति' ही है जो जगत् में रूपों का निर्माण करती है, उन्हें स्थित रखती और नष्ट करती है। ... यह सर्वत्र रचनात्मक जीवन-तत्त्व है।"[38]

"सच्ची 'जीवन-शक्ति' एक महान् एवं देदीप्यमान 'दिव्य शक्ति' के रूप में स्वयं का प्रकाशन करती है। शान्ति, शक्ति और आनन्द से परिपूर्ण यह 'जीवन' का विशाल-पंथी 'देवदूत' अपने शक्तिशाली पंखों से जगत् का आलिंगन करता है।"[39]

जीवन सर्वत्र है, अप्रकट या प्रकट, आवेष्टित या विकसित। पर हर स्थिति में यह सार्विक, सर्वव्यापी और अविनश्वर है—

...अमृतमथेदम्[40]

"जीवन रूपों का निर्माण करता है, उन्हें ऊर्जित करता है, कायम रखता है,

---

36 अथर्व०, 11.4.10

37 श्रीअरविन्द, दि लाइफ़ डिवाइन, वाल्यू०, 19, पृ० 1017-1018

38 श्रीअरविन्द, दि लाइफ़ डिवाइन, वाल्यू०, 18, पृ० 176-177

39 श्रीअरविन्द, दि सिन्थेसिस ऑफ योग, वाल्यू० 20, पृ० 167-168

40 ईश उप०, 17

विघटित करता है और पुनः रचता है। मृत्यु स्वयं 'जीवन' की एक प्रक्रिया मात्र है। यह सर्वव्यापी 'जीवन' है या गत्यात्मक ऊर्जा का संचलन, जो भौतिक जगत् के समस्त रूपों की रचना करता है और रूपों के विनाश में स्वयं नष्ट नहीं होता। यह 'जीवन'-शक्ति जगत् को व्याप्त करती है और इसके हर रूप में उपस्थित है। इसकी ऊर्जाओं का अनवरत विनिमय या एकान्तरण प्राणमयता के वैशिष्ट्यों और लक्षणों को जन्म देता है जिन्हें हम देख पाते हैं। पर यदि ये कहीं स्थगित भी हो जायें तो भी 'जीवन' बना रहता है। . . . प्राण के सभी चिह्न और लक्षणों के न रहने पर भी 'जीवन'-शक्ति उपस्थित रहती है। जहाँ हम जीवन का पता नहीं लगा पाते, वहाँ भी 'जीवन' रहता है।''[41]

"रूप की रचना करना एवं रूप में रुद्ध या बंद चेतना को विकसित या व्यक्त करना जगत् में सर्वव्यापी 'जीवन' का अर्थ एवं अभिप्राय है।''[42]

चित्-तपस्, चित्शक्ति अथवा प्राण-ऊर्जा का गति-संचलन ब्रह्मांड की प्रकृतिगत संपूर्णता है। प्राण की गति के अंदर ब्रह्मांड एक गतिशील आविर्भाव है। यह शक्ति का देश-काल-निमित्त की असंख्यकता में अभिव्यक्त होना है।

प्राण देवात्मशक्ति है।[43]

"यह ऊर्जा है, चित्-तपस् अथवा चित्शक्ति, जो अपने स्वयं प्रकाशित आत्म में परम चैतन्य सत्ता की अनन्त शक्ति है। आत्म-स्थित यह चैतन्य स्वयं के प्रति ज्योतिर्मय रूप से प्रज्ञानमय है। और यह आत्म-प्रज्ञा एक कालातीत आत्म-आधिपत्य है। यह अनन्त चैतन्य की शक्ति के रूप में स्वयं को प्रकट करती है। यह न केवल सर्वशक्तिशालिनी है, बल्कि सर्वज्ञानमयी भी है।''[44]

चैतन्य में वस्तुओं की नित्य अभिज्ञा विद्यमान रहती है। ऊर्जा अर्थात् चैतन्य की शक्ति उतनी ही पूर्ण अभिज्ञा के साथ वस्तुओं को क्रियान्वित करती है।

चित् शुद्ध चैतन्य है और शक्ति इसी चैतन्य का आविर्भावी गत्यात्मक प्रसरण। चैतन्य में स्थैतिक एवं गत्यात्मक दोनों अवस्थाएँ युगपत् हैं। सार्विक अभिज्ञता में ये दोनों नित्य एवं सतत विद्यमान रहती हैं।

---

41 श्रीअरविन्द, सप्लिमेंट, वाल्यू०, 27, पृ० 382

42 श्रीअरविन्द, सप्लिमेंट, वाल्यू०, 27, पृ० 383

43 श्वेता० उप०, 1.3

44 श्रीअरविन्द, दि उपनिषद्स, वाल्यू० 12, पृ० 203-204

"जिस जगत् के हम अंश हैं, अपनी सर्वाधिक प्रत्यक्षता में वह 'शक्ति' का गति-संचलन है; पर जब हम इसके बाह्य रूपों का बेधन करते हैं, तब यह सिद्ध हो जाता है कि यह शक्ति सृजनात्मक चेतना की एक निरन्तर, फिर भी नित्य परिवर्तनशील लय है जो अपनी ही अनन्त शाश्वत सत्ता के प्रतिभासिक सत्यों को स्वयं में ढाल रही है, विस्तृत कर रही है।"[45]

यह चिन्मय शक्ति दो ध्रुवों के बीच प्रवाहित है। "इसके एक छोर पर शाश्वत नीरवता एवं शुद्ध एकात्मता है, इसके दूसरे छोर पर शाश्वत ऊर्जा और सर्व के साथ सारूप्यता है।

यह नीरवता ऊर्जा का शाश्वत आधार है।"[46]

चैतन्य की परम शांत, निस्पन्द नीरवता में चित्शक्ति की गत्यात्मकता क्यों और कैसे प्रकट होती है ? इस प्रश्न का उत्तर प्राचीन भारतीय मनीषा ने दिया है।

इसका उल्लेख करते हुए श्रीअरविन्द के शब्द हैं, "यह शक्ति 'सत्ता' में अन्तर्निष्ठ, अन्तर्निहित है। यह एक है और अपृथक्करणीय है। सत्ता में अन्तर्निष्ठ यह शक्ति शांत एवं नीरव भी हो सकती है और गतिशील भी हो सकती है। जब यह विश्राम की स्थिति में होती है तब भी यह उतनी ही पूर्ण होती है। न तो नष्ट होती है न न्यून और न किसी भी रूप में परिवर्तित होती है।"[47]

क्योंकि यह चैतन्य की ही अन्तःप्रकृति है। चैतन्य में बाहर से प्रविष्ट या आरोपित कोई इतर सत्य या वस्तु नहीं। शक्ति स्वयं चैतन्य है। विश्राम अथवा गति-संचलन एक ही शक्ति की दो अवस्थाएँ हैं। एक में है चैतन्य-शक्ति का आत्म-केन्द्रीकरण, दूसरी में है आत्म-विस्तार या आत्म-प्रसरण। यह एक नित्य लय है जो स्वयं को युगपत् या प्रत्यावर्तित रूप से प्रस्तुत करती है।

यह उस परम चैतन्य सत्ता का अन्तःगर्भित परम स्वातंत्र्य है जो सृष्टि की लय अथवा विश्रान्ति की निमग्नता बनता है। और यह स्वातंत्र्य प्रश्नास्पद नहीं है।

वह परम सत्ता सार्विक चेतना भी है और सार्विक ऊर्जा एवं शक्ति भी। वह विश्वोत्तीर्ण भी है और विश्वमय भी। वह अनुत्तर है— सर्वोच्च एवं पूर्ण, अनतिक्रमणीय।

प्रत्यभिज्ञाशास्त्र एवं शैवदर्शन में इस परम सत्ता को 'प्रकाशविमर्शमय' कहा

---

45 श्रीअरविन्द, दि लाइफ़ डिवाइन, वाल्यू०, 18, पृ० 103

46 श्रीअरविन्द, दि उपनिषद्स, वाल्यू० 12, पृ० 204

47 दि लाइफ़ डिवाइन, वाल्यू०, 18, पृ० 82-83

गया है—स्वयं प्रकाशित एवं प्रकाशमान तथा विमर्श एवं सर्वेक्षणयुक्त। विमर्श 'अहम् चेतना' का अकृत्रिम विस्फुरण है—**अकृत्रिमाहं इति विस्फुरणम्।**[48]

यही वह शक्ति है, प्रज्ञानात्मक आत्म-चेतना, जो विश्व की सृष्टि, स्थिति एवं लय के लिए उत्तरदायी है। यह चित् की चिद्रूपिणी शक्ति है।

दिव्य 'इच्छा' के स्वातंत्र्य में चैतन्य एवं ऊर्ज़ा, ज्ञान एवं शक्ति एक हैं और इन्हें पृथक् नहीं किया जा सकता। जो अचल है, वही अपनी शक्ति अथवा प्रकृति के कारण गतिमान है। जो अप्रकट अथवा परोक्ष है, वही अपनी परमेच्छा में व्यक्त एवं प्रत्यक्ष है।

"यह परम दिव्य 'इच्छा' ही है जो सब जानती है, सारे आविर्भावों को, प्राकट्यों को, समस्त वस्तुओं को, जो इस जगत् में हैं या जन्म लेती हैं। यह 'जातवेद' है, जिसमें समस्त जन्मों का अथवा जन्म लिये हुओं का ज्ञान है। यह उन्हें उनकी सत्ता के नियम में जानती है, दूसरे जन्मों से उनके संबंध में, उनके उद्देश्य एवं ढंग में, उनकी प्रक्रिया एवं लक्ष्य में, उनके सबके साथ ऐक्य एवं सबसे वैभिन्न्य में जानती है। यही वह दिव्य इच्छा है जो जगत् का निर्माण करती है। यह उन सबके साथ एक है जिनका यह संयोजन करती है। इसकी सत्ता, इसका ज्ञान, इसकी क्रिया एक दूसरे से अविच्छेद्य हैं। जो यह है, यह जानती है; जो यह जानती है, वह यह करती है और हो जाती है।"[49]

'इच्छा' चैतन्य का परम स्वातंत्र्य है, स्वयं सक्रिय एवं पूर्ण प्रभुता-संपन्न स्वभाव।

जगत् का आविर्भाव हो या स्थिति या संहार—इनमें स्वतंत्र चेतना ही एकमात्र कारण है :

चितिः स्वतन्त्रा विश्वसिद्धिहेतुः।[50]

चिति अथवा चेतना के प्रसृत होने पर जगत् का उन्मेष होता है, जगत् स्थित रहता है, तथा प्रसरण को निवृत्त कर लेने पर जगत् निमीलन को प्राप्त होता है। चेतना स्वयं प्रकाशरूपा है और प्रकाश से ही प्रकाशन संभव है, इसलिए विश्वसिद्धि में चिति ही एकमात्र हेतु है।

---

48 क्षेमराज, पराप्रावेशिका, पृ० 2

49 श्रीअरविन्द, दि उपनिषद्स, वाल्यू० 12, पृ० 132

50 प्रत्यभिज्ञा०, 1

अतएव

जो कुछ भी इस लोक या अन्य किसी लोक में विद्यमान है, वह चैतन्य का ही सृजन है। और चैतन्य में ही स्थित है। विश्व का प्रकाशन चेतना के अपने ही पटल पर है और अपनी इच्छा से है :

स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति।[51]

जहाँ चेतना अदृश्य, असंवेदनशील, प्रतिक्रियारहित एवं अनुपस्थित प्रतीत होती है, वहाँ भी यह है। इसकी सर्वत्र विद्यमानता अपरिहार्य है। क्योंकि सब कुछ इस चेतना का ही रूप है। और ऐसा इसकी अन्तःगर्भित शक्ति के कारण होता है—चित्शक्ति के कारण।

शक्ति जो लोकों का निर्माण करती है, चैतन्य शक्ति है। सत्ता जो इनमें प्रकाशित होती है, चैतन्य सत्ता है।

चित्शक्ति कोई प्रतिभासिक परिणाम नहीं है।
यह चैतन्य का ही अन्तर्सत्य एवं गुह्य स्वभाव है।

प्राण चित्-तपस है
प्राण चित्-ऊर्जा है
प्राण चित्-शक्ति है
और यह चैतन्य का स्वयंभू प्रकटनशील तत्त्व है।

---

51 प्रत्यभिज्ञा०, 2

प्राणो वै बलम्

वह 'हय' होकर देवों को, 'वाजी' होकर गन्धर्वों को, 'अर्वा' होकर असुरों को एवं 'अश्व' होकर मनुष्यों को वहन करता है। समुद्र ही उसका बन्धु और समुद्र ही उद्गम है।

बृहद्० [1]

वह सर्वत्र गमनशील एवं महान् है।

गीता [2]

प्राण ऊर्जा है—शक्ति, गति एवं बल।

यह संपूर्ण जगत् प्राण में ही संचरण करता है और प्राण से ही निःसृत होता है। प्राण का शक्तिशाली स्वरूप महान् 'भय' है, उठा हुआ 'वज्र'। जो इसे जानते हैं, वे अमर हो जाते हैं :

यदिदं किञ्चजगत्सर्वं प्राण एजति निःसृतम्।
महद् भयं वज्रमुद्यतं य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति॥[3]

इस प्राण की शक्ति के भय से ही अग्नि एवं सूर्य तपते हैं, इन्द्र, वायु एवं मृत्यु अपने मार्गों पर द्रुत गमन करते हैं।

भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः।
भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः॥[4]

वैदिक देव मरुद्गण प्राण का ही पर्याय हैं। अन्तरिक्ष में संचरण करनेवाले इन मरुतों को उग्र कहा गया है :

---

1 हयो भूत्वा देवानवहद्वाजी गन्धर्वानर्वासुरानश्वो मनुष्यान् समुद्र एवास्य बन्धुः समुद्रो योनिः।

बृहद० उप०, 1.1.2

2 सर्वत्रगो महान्।

भगवद्गीता, 9.6

3 कठ उप०, 2.3.2

4 कठ उप०, 2.3.3

यूयमुग्रा मरुतः पृश्निमातरः[5]

मरुत् उग्र इसलिए हैं क्योंकि वे अपनी शक्ति से शत्रुओं का विध्वंस करते हैं :

प्र मृणीत शत्रून्।[6]

प्राण आत्मबल एवं शारीरिक बल का प्रदाता है :

य आत्मदा बलदा[7]

ऊर्जा स्वयं में बल है और प्राण इस ऊर्जा का सबसे सूक्ष्म एवं शक्तिशाली स्वरूप है, अणु-परमाणु में व्याप्त। यह प्राण ही है जो अपनी शक्तियों से सर्वत्र अन्तःप्रविष्ट हुआ है :

स प्र विवेशा शचीभिः।[8]

प्राण विराट् है—तेजोमय :

प्राणो विराट्[9]

वस्तुतः प्राण ही दीप्ति एवं वीर्य है :

प्राणा वै यशो वीर्यम्[10]

प्राण का बहुवचन में प्रयोग इस एक तत्त्व की बहुविध गति, शक्ति एवं क्रिया को प्रकट करता है। प्राण की गति सर्वत्र व्यापक है।

प्राण की बलवत्ता के कारण उसे 'वृषभ' की संज्ञा दी गयी है :

अनड्वान प्राण उच्यते।[11]

प्राण अन्य देवताओं में सर्वाधिक बलवान् एवं तेजस्वी है :

---

5 अथर्व०, 13.1.3

6 वही

7 ऋग्०, 10.121.2; अथर्व०, 13.3.24

8 अथर्व०, 11.4.20

9 अथर्व०, 11.4.12

10 बृहद० उप०, 1.2.6

11 अथर्व०, 11.4.13

देवानां वह्नितमः[12]

अपनी ऊर्जा एवं तेजस्विता के कारण वह इन्द्र है :
इन्द्रस्त्वं प्राणतेजसा[13]

प्राण ही वीर्ययुक्त दीप्ति का प्रदाता है :
यशसं वीरवत्तमम्[14]

यह संपूर्ण चराचर विश्व, इसकी मरणशील एवं दिव्य सत्ताएँ प्राण-बल का आधार ग्रहण करती हैं।

सत्य का आधार बल है और प्राण बल है :
सत्यं बले प्रतिष्ठितम्[15]
प्राणो वै बलम्[16]

इसीलिए ऐसा कहा जाता है कि बल अर्थात् प्राण सत्य से अधिक शक्तिशाली है :
. . . तस्मादाहुर्बलꣳ सत्यादोजीय[17]

सरस्वती (मध्यमा शक्ति) प्राण द्वारा वीर्य प्रदान करती है :
प्राणेन सरस्वती वीर्यम्।[18]

प्राण एवं वीर्य समानार्थक भी हैं, क्योंकि ये बल के परिचायक हैं :
प्राणं न वीर्यम् . . .[19]

प्राण को लड़ाकू 'मेष' की संज्ञा दी गयी है।
गति, कांति, शक्ति के अर्थ में प्राण 'अविः' है :

---

12 प्रश्न उप०, 2.8
13 प्रश्न उप०, 2.9
14 ऋग्०, 1.1.3
15 बृहद्० उप०, 5.14.4
16 वही
17 वही
18 यजु०, 20.80
19 यजु०, 21.49

अविर्न मेषो नसि वीर्याय प्राणस्य पन्था अमृतो ग्रहाभ्याम्।[20]

इस एक प्राण-शक्ति में, जो चराचर जगत् को व्याप्त करती है तथा व्यक्तिक एवं समष्टिगत रूप से समान शक्तिशाली है, समस्त देवगण एवं लोक निवास करते हैं :

एते अस्मिन् देवा एकवृतो भवन्ति।[21]

पुंसत्व शक्ति के कारण, उपनिषद् में, प्राण को पुरुष अथवा 'नर' की संज्ञा दी गयी है। वह 'विश्वनर' है :

स एष वैश्वानरः . . .[22]

प्राण के बल पर विचार करते हुए उपनिषद् में वर्णित **'मेध्याश्व'**[23] की प्रकल्पना को ग्रहण किया जा सकता है।

प्राण की ऊर्जाशक्ति एवं गति को इस 'अश्व' में लक्ष्य किया जा सकता है। प्राण और जगत् एक हैं और यह अश्व जगत् की प्रतीकात्मकता एवं स्वरूप को धारण करता है।

श्रीअरविन्द के शब्दों में—"यह 'अश्व' एक ऐसा (प्रकल्पित) शारीरिक आकार है जो शक्ति एवं वेग के अज्ञात परिमाण का प्रतिनिधित्व करता है। इस अवधारणा से स्पष्ट पता लगता है कि कोई ऐसा बल, ऐसा वेग है, जो विश्वव्यापी है, सार्विक है; यह अपने अस्तित्व से लोकों को व्याप्त करता है, काल को अधिकृत करता है और अन्तरिक्ष में दौड़ता है। यह अपनी तीव्र गति में अपने ऊपर, देव, दानव एवं मानवों को वहन करता है।"[24]

यह अश्व अपनी लाक्षणिकता में प्राण-बल, प्राण-गति, प्राण-शक्ति का ही रूप है। जब यह अपना शरीर तानता है तब विद्युत् की तरह चमकता है और जब यह थरथराता है तब मेघ-गर्जना करता है :

यद्विजृम्भते तद्विद्योतते
यद्विधूनुते तत्स्तनयति।[25]

---

20 यजु०, 19.90

21 अथर्व०, 13.4.13

22 प्रश्न उप०, 1.6

23 बृहद्० उप०, 1.1.1

24 दि उपनिषद्स, वाल्यू० 12, पृ० 336

25 बृहद्० उप०, 1.1.1

इस अश्व के अंग-प्रत्यंग, जो सूर्य, वायु, अग्नि, देश-काल, द्यौ-अन्तरिक्ष, पृथिवी तथा अन्य अनेक तत्त्वों से बने हैं, प्रथम प्राण का ही प्रादुर्भाव हैं और प्राण के साथ संयुक्त हैं।

मेध्याश्व की प्रतीकात्मक अपरिमेय शक्ति से युक्त यह विश्व और इसकी समस्त शक्तियाँ वैश्वानर प्राण का ही रूप हैं :

वैश्वानरो विश्वरूपः[26]

उत्क्रमण करने के लिए उद्यत प्राण की उपमा उस सिन्धुदेशीय महान् अश्व से दी गयी है जो पैर बाँधने के खूँटों को उखाड़ डालता है।[27]

प्राण की ऊर्ध्व-अधः गति को दो अश्व-शक्तियाँ स्वीकार किया गया है।[28]

उपनिषद् में प्राण की शक्ति का वर्णन अनेक रूपों में हुआ है। प्राण 'रं' है, क्योंकि सब प्राणी उसमें रमते हैं। प्राण 'उक्थ' है क्योंकि वह सबको उठाता है। प्राण ही 'यजु' है क्योंकि प्राण में सब प्राणी संयुक्त होते हैं। प्राण 'साम' है क्योंकि सब प्राणी प्राण में सम्यक् सामंजस्य से रहते हैं। प्राण ही 'क्षत्त्र' है क्योंकि प्राण ही क्षतों से रक्षा करता है :

प्राणो वै रं प्राणे हीमानि सर्वाणि भूतानि रमन्ते।[29]
प्राणो वा उक्थं प्राणो हीदं सर्वमुत्थापयति।
प्राणो वै यजुः प्राणे हीमानि सर्वाणि भूतानि युज्यन्ते।
प्राणो वै साम प्राणे हीमानि सर्वाणि भूतानि सम्यञ्चि।
प्राणो वै क्षत्त्रं प्राणो हि वै क्षत्त्रं त्रायते।[30]

प्राण सर्वदेवमय है। वह अग्नि, सूर्य, पर्जन्य, इन्द्र, वायु, पृथिवी, भूत एवं दिव्य, सद्-असद्, अमृत सब कुछ है।[31]

प्राण में ही सब प्रतिष्ठित हैं।[32]

---

26 प्रश्न उप०, 1.6
27 बृहद्० उप०, 6.1.13
28 अथर्व०, 20.38.5
29 बृहद्० उप०, 5.12.1
30 बृहद्० उप०, 5.13.1-4
31 प्रश्न उप०, 2.5
32 प्रश्न उप०, 2.6

देवगण एक ही ईश्वर की विभिन्न विभूतियाँ हैं। वे उस 'परम एक' के अनेक वैशिष्ट्यों का प्रतिनिधित्व करते हैं। वे उस 'स्थिर' की अनेक गतियाँ हैं, अनेक शक्तियाँ।

अदिति इन देवों की माता है, सर्वदेवमयी। इसी सर्वदेवमयी माता का जन्म प्राण से होता है :

या प्राणेन सम्भवत्यदितिर्देवतामयी।[33]

यह अदिति प्राण-शक्ति का ही एक रूप है और प्राण की भाँति 'गुहा' में स्थित है :

गुहां प्रविश्य तिष्ठन्तीं[34]

यह प्राण का अपरिमेय बल है जो देव, दानव, मानव तथा अन्य समस्त चर-अचर सत्ताओं का संवाहक है।

---

33 कठ उप०, 2.1.7

34 वही

प्राणा वै सत्यं

प्राण सत्य है
आत्मा सत्य का सत्य है
यह प्राणों का सत्य है

बृहद०[1]

जिस प्रकार अग्नि से स्फुलिंग उड़ते हैं, उसी प्रकार इस आत्मा से सर्व प्राण, लोक, देव एवं प्राणी उत्पन्न होते हैं :

यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्ति, एवमेव अस्मादात्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति।[2]

हर वस्तु का एक सत्य होता है और उस सत्य का भी एक सत्य होता है—अन्तर-सत्य और यह उसका आत्मा होता है, उसके स्वरूपगत वैशिष्ट्य का नाम।

उक्त प्रसंग में लोक, देव, भूत-समुदायों को सत्य न कहकर केवल प्राणों को ही सत्य कहा गया है, क्योंकि प्राणों में ही सबके सत्य का अन्तर्भाव है। प्राणों का सत्य आत्मा है, आत्मा में ही प्राणों का सत्य है। आत्मा प्राण का प्राण है—**प्राणस्य प्राणः।**[3]

प्राण ब्रह्म है, प्राण आत्मा है, इस अर्थ में भी आत्मा प्राणों का सत्य है। आत्मा प्राण का निजान्तर्गत आत्म रूप है।

आत्मा से उत्पन्न होकर भी प्राण की आत्मा के साथ अद्वितीयता सर्वत्र उपलब्ध है।

---

1 **प्राणा वै सत्यं**
. . . सत्यस्य सत्यं
तेषामेष सत्यम्।
बृहद० उप०, 2.1.20

2 केन उप०, 1.2

3 वही

आत्मा प्राणों का सत्य है, इससे आत्मा का अन्यत्व लक्षित नहीं होता, बल्कि अन्तर्भूत सत्य की प्रतीति होती है।

'प्राणा वै सत्यं' में प्राणों की बहुवचनीयता प्राण की प्राण-अपान आदि विभिन्न गतियों के साथ संयुक्त है।

चाक्रायण उषस्त के प्रति साक्षात् अपरोक्ष अर्थात् प्रत्यक्ष ब्रह्म सर्वान्तर, आत्मा की व्याख्या करते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं :

> सर्वान्तरो यः प्राणेन प्राणिति स त आत्मा सर्वान्तरो योऽपानेनापानिति स त आत्मा सर्वान्तरो यो व्यानेन व्यानिति स त आत्मा सर्वान्तरो य उदानेनो-दानिति स त आत्मा सर्वान्तर एष त आत्मा सर्वान्तरः।[4]

प्राण 'सर्वान्तरात्मा' है, यही प्राणों का सत्य है।

---

4 बृहद० उप०, 3.4.1

प्राणो वा अमृतम्

प्राण अमूर्त एवं अमर है।

बृहद०[1]

यह कभी न अस्त होनेवाली दिव्य शक्ति है।

बृहद०[2]

प्राण से इस लोक में अमरत्व प्राप्त होता है।

कौषी०[3]

भारतीय वाङ्मय में प्राण को अमर तत्त्व के रूप में स्वीकार किया गया है। यह अशरीरी एवं अमृत है :

अयमशरीरोऽमृतः प्राणः[4]

एषः अमृतम्[5]

वायु जो विश्व में प्राण का प्रतिनिधित्व करता है, वह भी स्वरूपतया अशरीरी एवं अमूर्त है :

अशरीरो वायुः[6]

अमूर्तं वायुः[7]

यह वायु रूप प्राण-तत्त्व अमर है :

वायुरनिलममृतमथेदम्[8]

---

1 **अथामूर्तं प्राणः एतदमृतम्**

बृहद्० उप०, 2.3.5

2 **सैषाऽनस्तमिता देवता**

बृहद्० उप०, 1.5.22

3 **प्राणेन ह्य एवास्मिन् लोकेऽमृतत्वं आप्नोति**

कौषी० ब्रा० उप०, 3.2

4 बृहद्० उप०, 4.4.7

5 प्रश्न उप०, 2.5

6 छान्दो० उप०, 8.12.2

7 बृहद्० उप०, 2.3.3

8 ईश उप०, 17

सृष्टि, स्थिति, संहार
जन्म, जीवन, मृत्यु

इसी अमर तत्त्व की बाह्य क्रियाएँ या गतियाँ हैं जो भौतिक सत्ता में अंकित होती हैं, प्राण में नहीं। प्राण का अस्तित्व हर तारतम्य या अनुक्रम में अक्षय बना रहता है। यह वह शक्ति है जो कभी अस्तमित नहीं होती।

प्राण स्वयं अमर है, वह विराट भौतिक तत्त्व के साथ संयुक्त होकर इसमें जीवन का संचार करता है और इसे अमरत्व की ओर प्रेरित करता है।

इस जगत् में प्राण के द्वारा ही अमृत की प्राप्ति होती है।

यही वह दिव्यता है, मृत्यु जिससे दूर है। जो इसे इस रूप में जानता है, मृत्यु उससे दूर रहती है :

सा वा एषा देवता दूर्नाम दूरꣳ ह्यस्या मृत्युर्दूरꣳ ह वा अस्मान्मृत्युर्भवति य एवं वेद।[9]

इस अमृतरूप प्राण में ही सर्वप्राप्ति हैं :

सैषा प्राणे सर्वाप्तिः।[10]

इस तेजोमय, अमर प्राण को ही आत्मा, अमृत एवं ब्रह्म कहा गया है :

. . . प्राणस्तेजोमयोऽमृतमयः . . . आत्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदꣳ सर्वम्।[11]

यह प्राण ही प्रज्ञात्मा, आनन्द, अजर, अमर है :

एष प्राण एव प्रज्ञात्मानन्दोऽजरोऽमृतः . . .[12]

यह दिव्य प्राण-तत्त्व देश, काल, निमित्त के विभाजनों से विभक्त सामान्य जीवन नहीं है। यह अक्षुण्ण, अविरत, अमृत प्राण-धारा है जिसमें देश-काल-निमित्त अपनी गतियों को ग्रहण करते हैं और अपने आविर्भावों को प्रस्तुत करते हैं। नाम-रूप-कर्म प्राण की अजस्र गति के ही परिणाम हैं और भौतिक जगत् का संलक्षण हैं। ये प्राण की ही अवर प्रतिरूप गतियाँ हैं।

किंतु शारीरिक सत्ता इनके 'त्रियेक' से जुड़ी हुई है और इसने सू

---

9 बृहद्० उप०, 1.3.9
10 कौषी० ब्रा० उप०, 3.3
11 बृहद्० उप०, 2.5.4
12 कौषी० ब्रा० उप०, 3.8

अमृतमय प्राण-तत्त्व को आच्छन्न किया हुआ है :

प्राणो वा अमृतं नामरूपे सत्यं ताभ्यामयं प्राणश्छन्नः।[13]

प्राण ही अमृत है। वह शरीर का आन्तर आधारभूत, आत्मस्वरूप एवं अविनाशी है। शरीर में स्थित कार्यात्मक नाम, रूप सत्य हैं। उनका आधारभूत क्रियात्मक प्राण वृद्धि और क्षय, मरणधर्मा नाम-रूपों से आच्छन्न एवं अप्रकाशित है।

ब्रह्मांडीय स्थूल शरीर ब्रह्मांडीय सूक्ष्म शरीर हिरण्यगर्भ को आवृत करता है। इसी प्रकार व्यक्तिक पंचभूतात्मक शरीर के सत्य ने अमृतमय प्राण-शरीर को ढक रखा है, प्राण जो आत्मरूप अमृत तत्त्व है।

प्राण आच्छन्न होकर भी सर्वव्यापी है, यद्यपि जगत् की पिण्डमय स्थूलता इसे आवृत किये है।

इस अशरीरी, अमृतमय प्राण का अन्वेषण ही अध्यात्म है।

प्राण के पथ को भी अमृत-पथ कहा गया है। इसकी दो गतियाँ इस पथ की रक्षक हैं :

प्राणस्य पंथा अमृतो ग्रहाभ्याम्[14]

प्राण उपास्य है।

दिवोदास प्रतर्दन को इन्द्र का उपदेश है, मैं प्राण हूँ। अमृत रूप में मेरी उपासना करो। :

प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा तं मामायुरमृतमित्युपास्व[15]

अमरत्व ही वह लक्ष्य है जिसे विश्व-प्राकट्य में चरितार्थ होना है, क्योंकि विश्वातीत आत्मतत्त्व तो अमृत ही है। जन्म और जीवन में अमरत्व की सिद्धि के लिए ही इस 'अमृत प्राण' की अभिव्यक्ति है।

जो प्राण के स्वरूप को जानता है, उसकी सन्ततियाँ नष्ट नहीं होती हैं और वह अमर हो जाता है :

य एवं विद्वान् प्राणं वेद। न हास्य प्रजा हीयतेऽमृतो भवति।[16]

---

13 बृहद्० उप०, 1.6.3

14 यजुः, 19.40

15 कौषी० ब्रा० उप०, 3.2

16 प्रश्न उप०, 3.11

प्राण की उत्पत्ति, उसके आगमन एवं स्थिति तथा उसके पंचविध विभुत्व के ज्ञान से, और इसी प्रकार आत्मा के साथ उसके संबंध को जानकर मनुष्य अमृत प्राप्त करता है, जानकर मनुष्य अमृत प्राप्त करता है :

उत्पत्तिमायतिं स्थानं विभुत्वं चैव पञ्चधा।
अध्यात्मं चैव प्राणस्य विज्ञायामृतमश्नुते विज्ञायामृतमश्नुते ॥[17]

---

17 प्रश्न उप०, 3.12

प्राण हंस

हंस, पवित्रता में जिसका निवास है, अन्तरिक्ष में जो वसु है, वेदि पर याज्ञिक और पेय-पात्र में जो अतिथि है, वह मनुष्य में है, श्रेष्ठ में है, ऋत् उसका गृह और व्योम आवास है, जल, पृथिवी, पर्वत पर जो कुछ भी उत्पन्न है, सब वह है। वह ऋत है, वह बृहत् है।

कठ[1]

प्राण-हंस अपनी द्विधा गति के अन्दर संपूर्ण विश्व का आधार है। प्राण-हंस के दो गति-सपन्दनों को दो विशाल पंखों का वैशिष्ट्य प्रदान किया गया है, जो अनन्त देश-काल रूप जगत् में विस्तीर्ण हैं। यह हंस, देवगणों को अपने हृदय में धारण कर, समस्त भुवनों का निरीक्षण करता हुआ संचरण करता है :

सहस्राहृण्यं वियतावस्य पक्षौ हरे हंसस्य पततः स्वर्गम्।
स देवान्त्सर्वानुरस्युपदद्य संपश्यन् याति भुवनानि विश्वा॥[2]

व्यक्ति में प्राण-हंस के ये दो गति-प्रकार उसके दो पैर हैं। शरीर में व्याप्त यह प्राण-हंस जब प्रश्वसनयुक्त ऊर्ध्व गति में हृत्समुद्र के जल से ऊपर उठता है तब यह अपना अपान वृत्ति अर्थात् श्वसन रूप पैर जल से नहीं उठाता है। यदि यह अपने दोनों पैरों को उठा ले, तो न आज हो न कल, न रात्रि हो न दिन। इसलिए शरीर को प्राणयुक्त रखने के लिए वह अपने एक पैर को स्थित रखता है :

एकं पादं नोत्खिदति सलिलाद्धंस उच्चरन्।
यदङ्ग स तमुत्खिदेन्नैवाद्य न श्वः स्यान्न रात्री नाहः स्यान्न व्युच्छेत् कदाचन॥[3]

जब यह हंस शरीर से अपनी दोनों गतियों को समेटता है, तब इसका अर्थ है प्राण-हंस का उड़ जाना—एक विराम, एक मृत्यु, एक शारीरिक घटना—

---

1 हंसः शुचिषद्वसुरन्तरिक्षसद्धोता वेदिषदतिथिर्दुरोणसत्।
नृषद्वरसदृतसद्व्योमसदब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतं बृहत्॥
कठ उप०, 2.2.2

2 अथर्व०, 10.8.18

3 अथर्व०, 11.4.21

व्यक्ति प्राण-हंस की गति का समष्टि प्राण की गति में लय।

यह प्राण-हंस संपूर्ण विश्व के केन्द्र में है। जल में सन्निहित अग्नि के रूप में इसका उल्लेख किया गया है। इसके ज्ञान से प्राणी मृत्यु का अतिक्रमण करता है। इस महायात्रा के लिए अन्य कोई पंथ नहीं है :

एको हंसो भुवनस्यास्य मध्ये स एवाग्निः सलिले सन्निविष्टः।
तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पंथा विद्यतेऽयनाय॥[4]

प्राण रूप मातरिश्वा के जल में प्रविष्ट होने का उल्लेख अन्यत्र भी मिलता है। सर्वदेवमय उस सलिल में सृष्टि का रचयिता ब्रह्म निश्चल रूप से स्थित था :

अप्स्वासीन्मातरिश्वा प्रविष्टः प्रविष्टा देवाः सलिलान्यासन्।
बृहन् ह तस्थौ रजसो विमानः पवमानो हरित आ विवेश॥[5]

उपनिषद् में प्राण-हंस को जीवात्मा भी कहा गया है, व्यक्ति में विद्यमान उसकी आत्मा। यह हंस स्वयं को पृथक् एवं संचालक शक्ति को पृथक् मानकर इस विराट् ब्रह्म-चक्र में भ्रमण करता है। जब इनके एकत्व का अनुभव होता है तब अमरत्व की प्राप्ति होती है :

सर्वाजीवे सर्वसंस्थे बृहन्ते अस्मिन् हंसो भ्राम्यते ब्रह्मचक्रे।
पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति॥[6]

यह प्राण-हंस परमात्मन् ही है जो चर-अचर संपूर्ण जगत् को अपने नियंत्रण में रखता है, जो देह के अनुबन्धों को स्वीकार कर इस नौ द्वारवाले नगर (शरीर) में बाहर संचरण करता है :

नवद्वारे पुरे देही हंसो लेलायते बहिः।
वशी सर्वस्य लोकस्य स्थावरस्य चरस्य च॥[7]

उपनिषद् में शंभु, भव, रुद्र, प्रजापति, हिरण्यगर्भ आदि देवों के साथ, जो प्राणसंज्ञक ही हैं, 'प्राण-हंस' का उल्लेख किया गया है :

आत्मेशानः शंभुर्भवो रुद्रः प्रजापतिर्विश्वसृक् हिरण्यगर्भः सत्यं प्राणो हंसः . . .।[8]

---

4 श्वेता० उप०, 6.15
5 अथर्व०, 10.8.40
6 श्वेता० उप०, 1.6
7 श्वेता० उप०, 3.19
8 मैत्री उप०, 5.8

प्राण-सूत्र

इस प्राण में ही सारे प्राणी बुने हुए हैं।

मैत्री[1]

प्राण वह 'सूत्र' है जिस पर हमारे शारीरिक जीवनों की उत्तरोत्तरता, इनके सांतत्य को सुव्यवस्थित किया गया है। यही वह सूत्र है जो नश्वर शरीर से संयुक्त होकर अन्तःपुरुष की यात्रा को आगे ले जाता है।

श्रीअरविन्द[2]

प्राणतत्त्व अमर है। यह सृष्टि में न तो निर्मित होता है, न लय में नष्ट। यदि ऐसा होता तो सत्ता का सांतत्य स्थित नहीं रह सकता था।

इसी प्राण में समस्त सृष्टि एवं इसके प्राणी सन्निविष्ट हैं।

प्राण सूत्रात्मा है।

जो इस विस्तृत सूत्र को जानता है, जिसमें यह सम्पूर्ण प्राणी जगत् ग्रथित है, जो इस सूत्र के सूत्र को जानता है, वह उस ब्रह्मन् को जानता है :

यो विद्यात् सूत्रं विततं यस्मिन्नोतः प्रजा इमाः।
सूत्रं सूत्रस्य यो विद्यात् स विद्यात् ब्राह्मणं महत्॥[3]

ये प्राण-सूत्र ही हैं जो इस व्यक्ति को एवं सृष्टि को बुनते हैं। यह विशाल प्राण-सूत्र है जिसमें यह जगत् तथा अन्य हर जगत् पिरोया हुआ है।

प्रश्न है वह कौन-सा पुरुष है जो प्राण, अपान, समान एवं व्यान आदि को इस शरीर में संस्थापित करता है ?

को अस्मिन् प्राणमवयत् को अपानं व्यानयु।
समानमस्मिन् को देवोऽधि शिश्राय पूरुषे॥[3]

प्राण अपने ही तन्तुओं से इस व्यष्टि एवं समष्टि जगत् को बुनता है। जिस

---

1 अस्मिन्नोता इमाः प्रजाः।

मैत्री उप०, 7.7

2 दि उपनिषद्स, वाल्यू० 12, पृ० 131

3 अथर्व०, 10.2.13

प्रकार मकड़ा अवान्तर कारण की अपेक्षा किये बिना अपने ही तन्तुओं को प्रसृत करता है तथा पुनः उन्हें समेट भी लेता है, उसी प्रकार इस विश्व की सृष्टि है :

यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते . . . तथा सम्भवतीह विश्वम्।[4]

ये समस्त लोक-लोकान्तर प्राण-सूत्र से जुड़े हैं।

उद्दालक आरुणि का प्रश्न है, वह कौन-सा सूत्र है, जिससे यह लोक, दूसरे लोक एवं संपूर्ण प्राणी-समूह परस्पर सम्बद्ध हैं ?

क्योंकि जो कोई इस सूत्र को जानता है और अन्तर्यामी को भी, वह ब्रह्मवेत्ता है, लोकवेत्ता है, वह देववेत्ता है . . . वह आत्मवेत्ता एवं सर्ववेत्ता है।[5]

याज्ञवल्क्य का स्पष्ट उत्तर है :

वायुर्वै गौतम तत् सूत्रम्।[6]

यह वायु अर्थात् प्राण ही वह सूत्र है।

याज्ञवल्क्य कहते हैं :

वायुना वै गौतम सूत्रेणायं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतानि संदृब्धानि भवन्ति।[7]

इस प्राण-सूत्र ने ही इस लोक, पर लोक एवं समस्त भूत-जगत् को पिरोया हुआ है। प्राणी हों या लोक, सब इसी सूत्र में गुँथे हुए हैं।

प्राण ही वह धागा है जिसने सबको जोड़ रखा है।

यह प्राण है जो एकसूत्रता को बनाये रखता है, निरन्तर गतिशील जगत् की सम्बद्धता को। यह प्राण वायु आकाश के समान सूक्ष्म तत्त्व है।

यह समष्टि-व्यष्टि रूप है। समुद्र की तरंगों के समान उनचास मरुत् इसके बाह्य भेद हैं, यह वायु (प्राण) सूत्र के रूप में ज्ञातव्य है :

यत्तत् समष्टिव्यष्ट्यात्मकम्, यस्या बाह्या भेदाः सप्तसप्त मरुदगणाः समुद्रस्येवोर्मयः, तदेतद् वायव्यं तत्त्वं सूत्रं इति।[8]

एक सत्ता से दूसरी सत्ता के बीच, एक लोक से दूसरे लोक के बीच, एक

---

4 मुंडक उप०, 1.1.7

5 बृहद० उप०, 3.7.1

6 बृहद० उप०, 3.7.2

7 वही

8 शंकरभाष्य, बृहद० उप०, 3.7.2

प्राणी से दूसरे प्राणी के मध्य जो अपरिचय एवं अन्तराय है, प्राण-सूत्र की तारतम्यता उसे सम्बद्ध एवं संयुक्त करती है। प्राण चैतन्य की परम स्वतंत्र गति है, एक सर्वत्र संसरणशील प्रवाह, जो न केवल हर स्तर पर बल्कि एक स्तर से दूसरे स्तर के मध्य भी विद्यमान है।

प्राण-वायु शरीर और मन, भू एवं स्वर्लोक के बीच की कड़ी है, सन्धान अथवा जोड़ :

वायुः सन्धानम्[9]

जिस प्रकार सूत्र में मणियाँ पिरोयी होती हैं, उसी प्रकार यह समस्त सृष्टि और इसकी वस्तुएँ प्राण में पिरोयी हुई हैं :

सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव।[10]

प्राण के समस्त गति-प्रवाहों से द्यौ, पृथिवी, अन्तरिक्ष एवं मन अन्तर्ग्रथित हैं :

यस्मिन् द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतं मनः सह प्राणैश्च सर्वैः।[11]

प्राणियों का चेतन हृदय अपनी समग्रता में प्राणों से व्याप्त एवं ग्रथित है :

प्राणैश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां[12]

यह प्राण ही मन का आश्रय एवं बन्ध है :

प्राणबन्धनःहि सोम्य मन[13]

जिस प्रकार डोरी से बँधा हुआ पक्षी इधर-उधर उड़कर अन्यत्र आयतन न मिलने पर अपने बन्धन-स्थान का ही आश्रय लेता है, उसी प्रकार प्राण-सूत्र से बँधा हुआ यह मन भी अनेक दिशाओं में उड़कर अन्यत्र आयतन न मिलने पर प्राण का ही आश्रय लेता है :

स यथा शकुनिः सूत्रेण प्रबद्धो दिशं दिशं पतित्वान्यत्रायतनमलब्ध्वा बन्धन-मेवोपश्रयत एवमेव खलु सोम्य तन्मनो दिशं दिशं पतित्वान्यत्रायतनमलब्ध्वा प्राणमेवोपश्रयते[14]

---

9 तैत्ति० उप०, शिक्षा०, 3

10 भगवद्गीता, 7.7

11 मुंडक उप०, 2.2.5

12 मुंडक उप०, 3.1.9

13 छान्दो० उप०, 6.8.2

14 वही

यह प्राण सर्वकार्यकारण से उपलक्षित परा देवता है :

सर्वकार्यकारणाश्रयेणोपलक्षितप्राण इत्युच्यते सदाख्या परा देवता[15]

मन सर्वत्र भटककर इस प्राणरूप अन्तरात्मा का आश्रय लेता है। इसी की डोरी से सबका अस्तित्व बँधा हुआ है। यही आयतन है—आश्रय स्थल। यही वह सूत्र है जो प्राणी को और उसके मन को स्वस्थान में लौटा ले आता है।

---

15 शंकरभाष्य, छान्दो० उप०, 6.8.2

व्यष्टि, समष्टि प्राण

प्राण प्राण के साथ गमन करे।

यजु०[1]

ब्रह्मांड का हर भाग स्वयं में एक लघु ब्रह्मांड है जो भिन्न स्थितियों एवं भिन्न रूपों के अन्तर्गत बृहत् ब्रह्मांड की प्रकृति एवं कार्यों की पुनरावृत्ति कर रहा है।

श्रीअरविन्द[2]

"प्राण व्यष्टि भी है और समष्टि भी। समष्टि प्राण ब्रह्मन् है। एक विशेष संबंध व्यक्ति शरीर में व्यष्टि प्राण की संरचना करता है। वयक्तिक प्राण उस विशेष शरीर तक सीमित है जिसे यह प्राणवन्त करता है और इस प्रकार यह हर श्वसन-प्रश्वसनशील प्राणी में प्रकट है। ब्रह्मांडीय प्राण, जो समस्त प्राणियों को अनुप्राणित एवं व्याप्त करता है, सर्व व्यक्तिक प्राणों के समुच्चय के रूप में ब्रह्मन् है और व्यष्टि एवं समष्टि जीवन का उदग्म है। श्वसन-प्रश्वसन, ब्रह्मांडीय प्राण-'लय' का, लघु ब्रह्मांडीय प्राकंट्य है जिसमें संपूर्ण जगत् संचरणशील है और जिसके अनुसार यह प्रकट एवं तिरोहित होता है।"[3]

हर व्यक्ति सत्ता अपने लघु पिंड में वही है जो अपनी विशालता में यह ब्रह्मांड है। इन दोनों की संरचना एक है—यथा पिण्डं तथा ब्रह्मांडम्।

प्राण व्यक्ति एवं विश्व में सर्वत्र व्यापक है।

व्यष्टि प्राण समष्टि प्राण के साथ सामंजस्यपूर्वक गतिशील हो, यह अत्यन्त महत्वपूर्ण है :

सं प्राणः प्राणेन गच्छताम्।

यह संगतिपूर्ण गमन दो व्यक्ति-प्राणों के बीच का सामंजस्य भी है और

---

1 **सं प्राणः प्राणेन गच्छताम्**, यजु०, 6.18

2 सप्लिमेंट, वाल्यू० 27, पृ० 214

3 सर जॉन वुडरॉफ, दि वर्ल्ड ऐज़ पावर, पृ० 74

व्यष्टि और समष्टि प्राण के बीच का सुरात्मक सौन्दर्य भी।

वस्तुतः, व्यक्ति के अंदर क्रियाशील प्राण समष्टि प्राण का ही संक्षिप्त या लघु रूप है और दोनों समान हैं।

यह ब्रह्मांड एवं पिण्ड सब प्राण के वश में हैं:

प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे।[4]

समष्टि प्राण से ही व्यष्टि प्राण का निर्माण होता है। स्वामी दिव्यानन्द के शब्दों में, "समष्टि वायुमहाभूत का सात्त्विक भाग व्यष्टि शरीर संचालन के लिए प्राणरूप में कार्य करता है, अर्थात्, सत्त्वप्रधान वायु ही उपादान कारणरूप होकर श्वसन-क्रिया के प्राणों की संरचना करता है।"[5]

व्यष्टि प्राण के प्रति ऋषि का कथन है कि यह समष्टि वायु के साथ गमन करे:

सं ते प्राणो वातेन गच्छताम्।[6]

इसका तात्पर्य यही है कि व्यक्ति सार्विक चेतना के साहचर्य में रहे, उसका सहचर बने, उसके साथ सम्वादी संयोजन एवं सामंजस्य में रहे, उससे स्वयं को पृथक् न करे।

व्यक्ति प्राण यदि अपनी आंतर-बाह्य गति में समष्टि प्राण की गति का समन्वय प्राप्त कर सके, तो यह साधना अथवा सिद्धि उसे विश्व-चेतना के साथ तदाकार कर देती है।

वुडरॉफ के शब्दों में, "अभिव्यक्त जीवन प्राण है, क्रियाशक्ति का एक रूप। ... अनुभव प्राप्त करने के माध्यम के रूप में आत्मा का भौतिक के किसी नियत रूप के साथ जो विशिष्ट संबंध है, वह व्यक्ति में व्यष्टि प्राण की संरचना करता है। ... व्यष्टि प्राण उस विशिष्ट व्यक्ति शरीर तक सीमित है, जिसे यह प्राणवन्त करता है। ... ब्रह्माडव्यापी प्राण सर्व प्राणों की समष्टि है और व्यष्टि प्राण का मूल कारण है।"[7]

समष्टि प्राण व्यष्टि प्राण का ब्रह्मन् है।

---

4 अथर्व०, 11.4.1

5 स्वामी दिव्यानन्द सरस्वती, वेदों में योगविद्या, पृ० 102-103

6 यजु०, 6.10

7 सर जॉन वुडरॉफ़, शक्ति एंड शाक्त, पृ० 203

प्राण सर्व अवस्थाओं एवं सर्व स्तरों पर विद्यमान है, व्यष्टि रूप में भी और समष्टि रूप में भी।

यह पूरी सृष्टि के प्रकम्पनों का समवाय है, यह पूरा जगत्। एक असंख्य समूह।

और व्यक्ति

सामूहिक या समष्टि गति-संचलनों में एक गति, एक प्रकम्पन है। विराट् जगत् में एक लघु जगत् :

जगत्यां जगत्।[8]

सार्विकता में एक व्यक्तिकता।

प्राण के व्यष्टि-समष्टि रूप के विषय में उपनिषद् में स्पष्ट उल्लेख है। प्राण का प्रतिनिधित्व करनेवाला वायु तत्त्व व्यष्टि-समष्टि रूप है :

वायुरेव व्यष्टिः वायुः समष्टिः[9]

वायु स्थावर-जंगम प्राणियों का अंतरात्मा है और वही बाहर भी है, अतः अध्यात्म, अधिभूत और अधिदैवभाव से जो भी विविध प्रकार की व्याप्ति है, वह वायु ही है तथा केवल सूत्र रूप से वायु ही समष्टि है। जो ऐसा जानता है वह समष्टि-व्यष्टि भाव से अपने स्वरूपभूत वायु को ही प्राप्त करता है।[10]

वायु पृथक् व्यक्ति सत्ताओं में आसीन व्यष्टि वायु है।
वायु इन व्यक्ति-सत्ताओं के समन्वय में संचरणशील समष्टि वायु है।
वस्तुतः यह विराट् प्राण तत्त्व है, जिससे निःसृत वायु—
प्राणाद्वायुः[11]

व्यष्टि प्राण होकर :
प्राणो भूत्वा[12]

व्यक्ति में प्रवेश करता है।

---

8 ईश उप०, 1

9 बृहद० उप०, 3.3.2

10 शंकरभाष्य, बृहद० उप०, 3.3.2

11 ऐत० उप०, 1.1.4

12 ऐत० उप०, 1.2.4

यह प्राणाग्नि है, परमात्मा, जो पंचवायु अथवा पंच प्राणों के साथ शरीर में प्रवेश करता है :

प्राणोऽग्निः परमात्मा वै पञ्चवायुः समाश्रितः[13]

परमात्मा स्वयं को वायु रूप करके—

स वायुरिवात्मानं कृत्वा[14]

अस्तित्व का प्रकाशन करता है, व्यष्टि सत्ता का। एक के रूप में वह प्रविष्ट नहीं हो सकता था, इसलिए उसने स्वयं को वायु के ही पाँच रूपों में विभक्त किया :

स पञ्चधात्मानं प्रविभज्य[15]

और तब व्यक्ति सत्ता में प्रवेश किया।

प्रकारान्तर से इसी तथ्य को इन शब्दों में अभिव्यक्त किया गया है :

यस्मिन् प्राणः पञ्चधा संविवेश।[16]

यह प्राण की पंचविध व्यापकता है :

विभुत्वं चैव पञ्चधा।[17]

विश्वव्यापी प्राणतत्त्व सम्राट् की भाँति है जो शरीर में अन्य प्राणों को पृथक्-पृथक् स्थानों पर नियुक्त करता है :

एष प्राण इतरान् प्राणान् पृथक्पृथगेव सन्निधत्ते।[18]

ये एक ही प्राण की इतर गतियाँ हैं—प्राण, अपान, समान, व्यान, उदान आदि, जो व्यष्टि प्राण के रूप में क्रियाशील होती हैं।

योगेश्वरानन्द[19] ने भी सृष्टि के दो भिन्न स्तरों पर प्राण की गति और उसके वैशिष्ट्य को समष्टि प्राण एवं व्यष्टि प्राण की संज्ञा दी है।

जब सार्विक स्तर पर, सृष्टि साम्यावस्था में स्थित होती है, विभेदीकरण

---

13 मैत्री उप०, 6.9

14 मैत्री उप०, 2.6

15 वही

16 मुंडक उप०, 3.1.9

17 प्रश्न उप०, 3.12

18 प्रश्न उप०, 3.4

19 योगेश्वरानन्द परमहंस, प्राणविज्ञान, पृ०, 22-24

अथवा विभाजन आकार नहीं लेता, तब प्राण की गति भी पृथक् एवं विभक्त नहीं होती और यह समष्टिगत एकीकरण में संचरणशील रहती है। यह ब्राह्मी सृष्टि में समष्टि प्राण की गति है। प्राण समष्टि चित्त, समष्टि बुद्धि एवं समष्टि अहंकार में समष्टि रूप से कार्य करता है।

ब्राह्मी सृष्टि में सात प्रकार के समष्टि प्राण हैं जो प्रकृति की बदलती हुई अवस्थाओं में क्रिया या गति का हेतु बने रहते हैं।

प्राण परिणाम भाव को प्राप्त होकर ही समष्टि रूप से व्यष्टि रूप होकर कारण शरीर में उतरता है। तदनन्तर सूक्ष्म तथा स्थूल शरीर में अनेक रूपों में विभक्त होकर कार्य करता है।

योगेश्वरानन्द के मत में

समष्टि प्राण की उत्पत्ति पुरुष और प्रकृति के संयोग से होती है तथा व्यष्टि प्राण की उत्पत्ति आत्मा और चित्त के संयोग से होती है।

परार्ध की शांति में संचरणशील प्राण समष्टि प्राण है और अपरार्ध सृष्टि के क्षोभ में संचरित प्राण व्यष्टि प्राण है।

व्यष्टि प्राण में उदान प्राण तेजो रूप है :

तेजो ह वा उदानः[20]

यह तेज उदान है। इसीलिए मनुष्य में जब यह तेज शांत हो जाता है तब उसकी इन्द्रियाँ मन में निवृत्त हो जाती हैं। उस समय मनुष्य अपने इसी मन के साथ प्राण का आश्रय लेता है। तब प्राण एवं तेजस्वी उदान उसे आत्मा के साथ उसके वाञ्छित लोक में ले जाते हैं।[21]

तेजस्वी उदान की ऊर्ध्वगति समष्टि प्राण-स्तरों का प्रकाशन करती है।

---

20 प्रश्न उप०, 3.9

21 प्रश्न उप०, 3.10

प्रज्ञात्मा प्राण

मैं प्राण हूँ, प्रज्ञात्मा, आयु एवं अमृत के रूप में मेरी उपासना करो।

कौषी॰[1]

जो यह सबके सो जाने पर जाग्रत रहता है।

कठ[2]

यह परम ऊर्जा सचेतन एवं ज्ञानसंपन्न है।

श्रीअरविन्द[3]

प्राण नित्य जाग्रत देव है, प्रज्ञानमय, चैतन्यसंपन्न।

जब सब इन्द्रियाँ मनसहित उस 'देव' में एक हो जाती हैं। जब मनुष्य न सुनता है, न देखता है, न सूँघता है, न रस लेता है, न स्पर्श करता है। न लेता है न देता है, न आता है न जाता है। तब सब कहते हैं कि वह सो रहा है।

तब शरीर के इस सोये हुए नगर में प्राणाग्नियाँ जागती रहती हैं :

प्राणाग्नय एवैतस्मिन् पुरे जाग्रति।[4]

यह प्राण ही है जो जाग्रत काल में बहिष्प्रज्ञ,[5] स्वप्न में अन्तःप्रज्ञ[6] एवं सुषुप्ति में एकीभूत प्रज्ञान के रूप में चेतोमुख प्राज्ञ[7] का रूप ग्रहण करता है।

यह बीजात्मा प्राण है, सर्वज्ञ एवं सर्वेश्वर। विश्व का उद्गम-स्थल एवं सब प्राणियों का जन्म एवं अंत :

---

1 प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा तं मां आयुः अमृतं इति उपास्व।

कौषी॰ ब्रा॰ उप॰, 3.2

2 य एष सुप्तेषु जागर्ति

कठ उप॰, 2.2.8

3 दि उपनिषद्स, वाल्यू॰ 12, पृ॰ 203

4 प्रश्न उप॰, 4.3

5 मांडू॰ उप॰, 3

6 मांडू॰ उप॰, 4

7 मांडू॰ उप॰, 5

एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्याम्येष योनिः
सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम्।[8]

बहिष्प्रज्ञ, अन्तःप्रज्ञ एवं चेतोमुख प्राज्ञ-स्थिति आत्मा की ही त्रियेक प्रकृति का मूलभूत वैशिष्ट्य है। इसे इस श्लोक में इस प्रकार अभिव्यक्त किया गया है :
बहिःप्रज्ञो विभुर्विश्वो ह्यन्तःप्रज्ञस्तु तैजसः।
घन-प्रज्ञस्तथा प्राज्ञ एक एव त्रिधा स्थितः।।[9]

वैश्वानर बाह्य के प्रति प्रज्ञावान् है, तैजस अन्दर के प्रति सचेतन है, प्राज्ञ वह है जो चेतना को स्वयं में सघन कर लेता है। यह 'एक' की ही तीन स्थितियाँ हैं।

शंकरभाष्य में
- **एको देवः सर्वभूतेषु गूढः**
- **क्षेत्रज्ञ . . . सर्वक्षेत्रेषु**
- **अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्**
- **प्राणो ह्येवैतान् सर्वान्संवृङ्क्ते . . .** आदि

शास्त्रोक्त उदाहरणों द्वारा इस तत्त्व को प्राण स्वीकार किया गया है।

ज्ञान एवं चैतन्य का कोई भी प्रकार, उच्च या अवर, प्रज्ञा है और प्राण एवं प्रज्ञा एक हैं। जो प्राण है वह प्रज्ञा है और जो प्रज्ञा है वह प्राण है :
यो वै प्राणः सा प्रज्ञा या वा प्रज्ञा स प्राणः।[10]

शुद्ध प्राणतत्त्व एवं उसकी ऊर्जा एक उच्चतर एवं सत्यतर अस्तित्व के अभिव्यंजक हैं। श्रीअरविन्द के शब्दों में "यह परम ऊर्जा चैतन्य एवं ज्ञानसंपन्न है।"

प्राण बीजात्मा शक्ति है। जो भी 'सद्' है, वह प्राण के अंदर है, प्राण का प्रकाश है, क्योंकि प्राण स्वयं सद् है :
सद् ब्रह्म प्राणशब्दवाच्यम्।[11]

प्राण स्वयं प्राज्ञ एवं स्वयं प्रज्ञा है।

---

8 मांडू० उप०, 6
9 गौडपाद०, 1
10 कौषी० ब्रा० उप०, 3.3
11 शंकरभाष्य, गौडपाद०, 1, 2

प्रज्ञा के स्वरूप एवं गुण-वैशिष्ट्य को स्पष्ट करते हुए उपनिषद् में उल्लेख है कि संज्ञान, आज्ञान, विज्ञान, प्रज्ञान, मेधा, दृष्टि, धृति, मति, मनीषा, जूति, स्मृति, संकल्प आदि सब प्रज्ञा अथवा प्रज्ञान के ही नाम हैं :

सर्वाण्येवैतानि प्रज्ञानस्य नामधेयानि भवन्ति।[12]

प्रज्ञा मति, बुद्धि है।
प्रज्ञा ज्ञान एवं चैतन्य है।

'चैतन्य' शब्द ज्ञान (प्रकाश) एवं गत्यात्मक शक्ति का परिचायक है—इस अर्थ में प्राण चैतन्य की ही ज्ञानात्मक क्रियाशीलता है। ज्ञान एवं कर्तृत्व प्राण के स्वरूपगत वैशिष्ट्य हैं। 'प्रज्ञात्मा प्राण' कहने का अर्थ है कर्तृत्वशक्तियुक्त प्राण के ज्ञान-चैतन्यमय स्वरूप को अभिहित करना।

प्राण अभिव्यक्ति है और यह जगत् प्राण की बीजात्मा शक्ति में निहित, पहले से ही विद्यमान वस्तु-सत्ताओं का अभिव्यक्तीकरण है। समष्टि पंचभूत हों या व्यक्तिक इन्द्रियाँ, यह उनके शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गंधमय विषय-चैतन्य का आविर्भाव प्रस्तुत करता है।

वस्तुओं के बोधात्मक संज्ञान एवं अनुभव के अंदर, प्रत्यक्ष या परोक्ष में, प्रज्ञात्मा प्राण की ही शक्ति विद्यमान है। यह प्राण ही है—प्रज्ञात्मा प्राण, जो इस संवेदनात्मक जगत् को प्रकाशित करता है। प्राण के अन्दर उस परम की दिव्य इच्छा क्रियाशील है, जो इस जगत् को प्रकट करती है। वह चिदात्मा है :

चिदात्मैव हि देवोऽन्तःस्थितमिच्छावशाद्बहिः . . प्रकाशयेत।[13]

जब प्राण को उस परमात्म की ऊर्जा कहते हैं, तब भी वह सर्वज्ञ, सर्वविद् की ज्ञानमय ऊर्जा है :

यः सर्वज्ञः सर्वविद् यस्य ज्ञानमयं तपः।[14]

अग्नि के रूप में प्राण को 'जातवेदा'[15] कहा गया है, जो समस्त जन्मों एवं जन्म लिये हुओं को जानता है।

"सायण के अनुसार प्राण 'चैतन्य आत्मा' अर्थात् प्रज्ञात्मन् है, जो नाम आर

---

12 ऐत० उप०, 3.1.2
13 ईश्वर प्रत्य०, 1.5.7
14 मुंडक उप०, 1.1.9
15 कठ उप०, 2.1.8; प्रश्न उप०, 1.8

रूपों के समस्त नानात्व को प्रकट करने के लिए शरीर में प्रवेश करता है।"[16]

प्राण अपने संज्ञानात्मक स्वरूप के कारण मन और शरीर के बीच का संयोजक सेतु है—"जिसके द्वारा मन ज्ञानेन्द्रियों—रूप, रस, गंध, शब्द, स्पर्श—के माध्यम से शारीरिक जगत् के संस्पर्शों को प्राप्त करता है और वाणी तथा अन्य चार कर्मेन्द्रियों के द्वारा विषय पर प्रतिक्रिया करता है; ये सभी इन्द्रियाँ अपने कार्य के लिए प्राण-शक्ति पर निर्भर करती हैं।"[17]

श्री पंडित के शब्दों में, "ज्ञान एवं क्रिया को चैतन्य के दो मूलभूत पक्षों के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। इसलिए सूक्ष्म व्यक्तिपरक ज्ञान एवं क्रिया को जीवन (प्राण) के दो आधारभूत चिह्नों के रूप में लिया जा सकता है।"[18]

यह प्राण ज्ञानी है, सर्वत्र गमनशील और जगत् का रक्षक है :
ज्ञः सर्वगो भुवनस्यास्य गोप्ता।[19]

प्राण विश्वस्रष्टा एवं विश्वविद् है, वह ज्ञानी और क्षेत्रज्ञ है :
स विश्वकृद्विश्वविद् ज्ञः क्षेत्रज्ञः।[20]

प्राण प्रज्ञात्मा है।

इन्द्र दिवोदास प्रतर्दन से कहते हैं, मैं प्राण हूँ, प्रज्ञात्मा, आयु एवं अमृत के रूप में मेरी उपासना करो :

प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा तं मां आयुः अमृतं इति उपास्व।[21]

प्राण से इस लोक में अमरत्व प्राप्त होता है और प्रज्ञा से सत्य संकल्प :
प्राणेन ह्य एवास्मिन् लोकेऽमृतत्वं आप्नोति। प्रज्ञया सत्यं संकल्पम्।[22]

प्रज्ञा चैतन्य है—यह आत्मा का स्वरूपगत वैशिष्ट्य है। इससे मनुष्य अमरत्व प्राप्त करता है :

---

16 डॉ० एस० राधाकृष्णन्, दि प्रिंसिपल उपनिषद्स्, पृ० 482

17 श्रीअरविन्द, दि उपनिषद्स्, वाल्यू० 12, पृ० 158

18 बी० एन० पंडित, स्पेसिफ़िक प्रिंसिपल्स ऑफ कश्मीर शैविज़म, पृ० 41

19 श्वेता० उप०, 6.17

20 श्वेता० उप०, 6.16

21 कौषी० ब्रा० उप०, 3.2

स एतेन प्रज्ञेनात्मना . . . अमृतः समभवत्।[23]

प्राण एवं प्रज्ञा में यदि किसी द्वित्व को आरोपित भी किया जाये, तो भी ये इस तरह संयुक्त हैं कि साथ ही इस शरीर में रहते और साथ ही इस शरीर से उत्क्रमण करते हैं :

सह ह्येतावस्मिञ्शरीरे वसतः सहोत्क्रामतः।[24]

वस्तुतः 'सह' शब्द इनके अभिन्नत्व एवं एकत्व का ही परिचायक है। प्रज्ञा को यदि गुण अथवा वैशिष्ट्य भी स्वीकार कर लिया जाये, एक विशेषण, तब भी वह प्राण में अन्तर्निष्ठ है।

वस्तुतः, चैतन्य जीवन का चिह्न है और प्राण जीवन है।

यह प्राण ही है जो इन्द्रयों में प्रविष्ट होकर विषयों का संज्ञान प्रकट करता है। वाणी से नाम, चक्षु से रूप, श्रोत्र से शब्द, मन से ध्यान—विभिन्न प्राण इन सबके साथ एक होकर इन सबको एक-एक कर प्रकट करते हैं :

एकभूयं वै प्राणा भूत्वा एकैकं सर्वाण्येवैतानि प्रज्ञापयन्ति।[25]

यह प्राण में निहित संज्ञानशक्ति है जो इन्द्रिय-विषयों को ग्राह्य बनाती है। यदि प्राण इनके साथ एक न हों तो कोई भी चक्षु से रूप, श्रोत्र से शब्द, मन से ध्यान आदि विषयों को ग्रहण नहीं कर सकेगा। ये प्राण ही हैं जो इनके माध्यम से बोलने, देखने, सुनने आदि का कार्य करते हैं :

वाचं वदन्तीं सर्वे प्राणा अनुवदन्ति
चक्षुः पश्यत् सर्वे प्राणा अनुपश्यन्ति
श्रोत्रं शृण्वत् सर्वे प्राणा अनुशृण्वन्ति
मनो ध्यायत् सर्वे प्राणा अनुध्यायन्ति
प्राणं प्राणन्तं सर्वे प्राणा अनुप्राणन्ति।[26]

लेकिन प्राणों की एक और भी श्रेष्ठतर विशिष्टता है :

---

23 ऐत० उप०, 3.1.4

24 कौषी० ब्रा० उप०, 3.3

25 वही

26 कौषी० ब्रा० उप०, 3.2

अस्तीत्येव प्राणानां निःश्रेयसं इति।[27]

वह है इन्द्रिय या इन्द्रियों के सक्रिय न होने पर भी प्राण की अवस्थिति। उपनिषद् में स्पष्टीकरण है—

"कोई वाणी के बिना भी जीता है, क्योंकि हम गूंगे को देखते हैं। कोई आँख के बिना भी जीता है, क्योंकि हम अंधे को देखते हैं। कोई श्रोत्र के बिना भी जीता है, क्योंकि हम बहरे को देखते हैं। हम मन के बिना, बाहु के बिना, पैर के बिना लोगों को जीते हुए देखते हैं।"[28]

उस समय वह कौन है जो शरीर को जीवित रखता है ? वह कौन है जो शरीर को धारण करता है ?

इन्द्र कहते हैं, यह प्रज्ञात्मा प्राण है जो शरीर को पकड़ कर उठाता है। इसीलिए 'उक्थ'रूप में इसकी उपासना करनी चाहिए :

प्राण एव प्रज्ञात्मेदं शरीरं परिगृह्योत्थापयति तस्मादेतदेवोक्थं उपासीतेति।[29]

यह दृष्टि है।
यह विज्ञान है।

इन्द्र एक अन्य उदाहरण द्वारा प्रज्ञात्मा प्राण का विशद व्याख्यान प्रस्तुत करते हैं :

जब मनुष्य गहरी निद्रा में होता है और कोई स्वप्न नहीं देखता, तब वह इस प्राण में एकरूप हो जाता है। तब वाणी सब नामों के साथ, नेत्र सब रूपों के साथ, श्रोत्र सब शब्दों के साथ, मन समस्त सोच-विचारों के साथ इसमें चले जाते हैं :

यत्रैतत्पुरुषः सुप्तः स्वप्नं न कंचन पश्यत्यथास्मिन्प्राण एवैकधा भवति
तदैनं वाक्सर्वैः नामभिः सहाप्येति
चक्षुः सर्वैः रूपैः सहाप्येति
श्रोत्रं सर्वैः शब्दैः सहाप्येति
मनः सर्वैर्ध्यातैः सहाप्येति[30]

---

27 कौषी० ब्रा० उप०, 3.2
28 कौषी० ब्रा० उप०, 3.3; छान्दो० उप०, 5.1.13
29 कौषी० ब्रा० उप०, 3.3
30 वही

इस प्रकार सब इन्द्रियाँ अपने विषयों के साथ प्राण में तदाकार हो जाती हैं। जब वह मनुष्य जागता है तो जिस प्रकार प्रज्ज्वलित अग्नि से चिनगारियाँ उड़ती हैं, वैसे ही उस प्राणात्मा से सर्व प्राण अपने-अपने आयतन की तरफ जाते हैं।[31]

अब इन्द्र एक मरणासन्न व्यक्ति का उदाहरण देते हैं।

जब एक व्यक्ति दौर्बल्य के कारण मोह-भ्रम को प्राप्त हो जाता है तब सब कहते हैं कि इसका चित्त चला गया है। न सुनता है, न देखता है, न बोलता है, न सोचता है। तब ये समस्त क्रियाएँ प्राण के साथ एक हो जाती हैं। और जब वह उत्क्रमण करता है तब वह इन सबके साथ उत्क्रमण करता है :

तं आहुः उत्क्रमीत चित्तं, न शृणोति, न पश्यति, न वाचा वदति, न ध्यायति, अथास्मिन् प्राण एवैकधा भवति। . . . स यदास्मात् शरीरात् उत्क्रामति सहैवैतैः सर्वैः उत्क्रामति।[32]

यह प्रज्ञात्मा प्राण है जिसमें सबका अन्तर्लय होता है और उत्क्रमण के समय सब उसके साथ उत्क्रमण करते हैं।

यह अत्यन्त विशिष्ट और विचारणीय स्थिति है।

इन्द्र और भी विस्तार से इस प्रज्ञात्मा प्राण की व्याख्या प्रस्तुत करते हैं।

शरीर से प्राण के उत्क्रमण करते समय दो क्रियाएँ एक साथ घटित होती हैं :

इन्द्रियों का विषय-उत्सर्जन और

प्राण द्वारा उस विषय की प्राप्ति।

इन्द्रियाँ प्राण में अपना विषय छोड़ती चली जाती हैं और प्राण उन्हें ग्रहण कर लेता है। वाणी सारे नामों का उसमें उत्सर्ग करती है और इस प्रकार प्राण वाणी से सारे नामों को प्राप्त कर लेता है। प्राण समस्त गन्धों को उसके अंदर उत्सर्जित करता है और वह उससे सारी गन्धों को प्राप्त कर लेता है। चक्षु सारे रूपों का उसमें उत्सर्जन करते हैं और वह चक्षु से सारे रूपों को प्राप्त कर लेता है। श्रोत्र उसमें समस्त शब्दों को उत्सर्जित करते हैं और वह श्रोत्र से सारे शब्दों को प्राप्त कर लेता है। मन उसमें समस्त सोच-विचारों का उत्सर्जन करता है और वह मन से सारे विचारों को प्राप्त कर लेता है :

वाग् एवास्मिन् सर्वाणि नामानि अभिविसृज्यन्ते

---

31 कौषी० ब्रा० उप०, 3.3

32 वही

वाचा सर्वाणि नामानि आप्नोति
प्राण एवास्मिन् सर्वे गन्धा अभिविसृज्यन्ते
प्राणेन सर्वान् गन्धान् आप्नोति
चक्षुः एवास्मिन् सर्वाणि रूपाणि अभिविसृज्यन्ते
चक्षुषा सर्वाणि रूपाणि आप्नोति
श्रोत्रं एवास्मिन् सर्वे शब्दा अभिविसृज्यन्ते
श्रोत्रेण सर्वान् शब्दान् आप्नोति
मन एवास्मिन् सर्वाणि ध्यानानि अभिविसृज्यन्ते
मनसा सर्वाणि ध्यानानि आप्नोति . . .।[33]

वस्तुतः समस्त ज्ञानेन्द्रियाँ एवं उनके रूपादि विषय, समस्त कर्मेन्द्रियाँ एवं उनके आदान-प्रदान, गमनागमन आदि कार्य प्रज्ञा का ही एक अंग है— **प्रज्ञायार्विभागम्**। यह प्राण में ही सर्व-प्राप्ति है :

सैषा प्राणे सर्वाप्तिः।[34]

प्राण और प्रज्ञा एक हैं। इसीलिए प्राण के उत्क्रमण करते समय जिस प्रकार सब प्राण में एक रूप हो जाते हैं, उसी प्रकार प्रज्ञा के साथ सब एक हो जाते हैं :

अस्यै प्रज्ञायै सर्वाणि भूतानि एकं भवन्ति।[35]

वस्तुतः, यह प्राण ही है जो सब हो जाता है :

प्राणो ह्येवैतानि सर्वाणि भवति।[36]

यह प्रज्ञा ही है जो विषय-बोध के अनुभव में ले जाती है। जब मनुष्य श्रोत्र होने पर भी नहीं सुनता, चक्षु होने पर भी नहीं देखता, वाचा होने पर भी नहीं बोलता, तब पूछने पर वह कहता है, "मेरा मन कहीं और था, मैंने नहीं सुना, मैंने नहीं देखा" :

अन्यत्र मे मनोऽभूद् इति आह नाहं एतद् शब्दं प्राज्ञासिषम्।
अन्यत्र मे मनोऽभूद् इति आह नाहं एतद् रूपं प्राज्ञासिषम्।[37]

---

33 कौषी० ब्रा० उप०, 3.4

34 वही

35 वही

36 छान्दो० उप०, 5.1.15

37 कौषी० ब्रा० उप०, 3.7

अन्यत्र इसे इस प्रकार कहा गया है कि वह मन से देखता है, मन से सुनता है :

मनसा ह्येव पश्यति
मनसा शृणोति।[38]

अथवा
हृदयेन हि रूपाणि जानाति हृदये ह्येव रूपाणि प्रतिष्ठितानि।[39]

शाकल्य का प्रश्न है, तुम और आत्मा किसमें प्रतिष्ठित हो :
कस्मिन्नु त्वं चात्मा च प्रतिष्ठितौ स्थ इति ?

याज्ञवल्क्य का उत्तर है, प्राण में :
प्राण इति।[40]

यहाँ 'त्वं' शरीरवाचक है और 'आत्मा' हृदय है।

अर्थ है ये शरीर और हृदय प्राण में प्रतिष्ठित हैं। प्राण प्रज्ञामय है और प्रज्ञान ब्रह्म है :
प्रज्ञानं ब्रह्म।[41]

यह प्रज्ञा ही है जो वाणी, चक्षु, श्रोत्र आदि इन्द्रियों में क्रियाशील है और इस प्रकार मनुष्य वाणी से समस्त नामों को, चक्षु से समस्त रूपों को, श्रोत्र से सर्व शब्दों को प्राप्त करता है :
प्रज्ञया वाचं समारुह्य वाचा सर्वाणि नामानि आप्नोति।[42] आदि

'समारुह्य' शब्द सम्यक् आरोहण को प्रकट करता है।

मेरा मन कहीं और था मैंने सुना नहीं।
मेरा मन कहीं और था मैंने देखा नहीं।

तो यह प्रज्ञा का अभाव है या उस क्षण में विच्छेद है कि मनुष्य इन्द्रिय-शक्ति के होने पर भी विषय के ग्रहण को चूक जाता है :

---

38 बृहद० उप०, 1.5.3
39 बृहद० उप०, 3.9.20
40 बृहद० उप०, 3.9.26
41 ऐत० उप०, 3.1.3
42 कौषी० ब्रा० उप०, 3.6

न हि प्रज्ञापेता वाङ् नाम किंचन प्रज्ञापयेत।
न हि प्रज्ञापेता धीः काचन सिद्ध्येन न प्रज्ञातव्यं प्रज्ञायेत्।[43]

यह विषयों के संज्ञान से प्रज्ञा का संबंध है।

दस भूतमात्राओं के साथ दस प्रज्ञामात्राओं का संबंध कहा गया है। यदि भूतमात्रा न हों तो प्रज्ञामात्रा न हों, यदि प्रज्ञामात्रा न हों तो भूतमात्रा न हों।

स्पष्टीकरण के लिए ही यह विश्लेषण है, क्योंकि प्रज्ञामात्राएँ अनेक नहीं हैं। जिस प्रकार रथ के पहिये की धुरी से सब आरे जुड़े रहते हैं, उसी प्रकार समस्त भूतमात्राएँ प्रज्ञामात्रा में अर्पित हैं और सब प्रज्ञामात्राएँ प्राण में अर्पित हैं :

यथा रथस्यारेषु नेमिरर्पिता नाभावरा अर्पिता एवमेवैता भूतमात्राः प्रज्ञामात्रा-स्वर्पिताः प्रज्ञामात्राः प्राणे अर्पिता।[44]

दिवोदास प्रतर्दन के प्रति प्रज्ञात्मा प्राण के स्वरूप एवं संलक्षण एवं कार्यों का विशद व्याख्यान करने के पश्चात् इन्द्र अपना निष्कर्ष प्रस्तुत करते हैं कि यह प्राण ही प्रज्ञात्मा, आनन्द, अजर और अमर है :

एष प्राण एव प्रज्ञात्मानन्दोऽजरोऽमृतः . . .।[45]

यही लोकपाल, लोकाधिपति, सर्वेश्वर है। यह मेरी आत्मा है, इस रूप में इसे जानना चाहिए, यह मेरी आत्मा है, इस रूप में इसे जानना चाहिए :

एष लोकपाल एष लोकाधिपतिरेष सर्वेश्वरः
स म आत्मेति विद्यात् स म आत्मेति विद्यात्।[46]

प्राण में ही त्रित्व ज्ञान (ऋग्-यजु-साम), यज्ञ, क्षत्रिय का शौर्य, ब्राह्मण का तेज और पवित्रता प्रतिष्ठित है :

अरा इव रथनाभौ प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम्।
ऋचो यजूंषि सामानि यज्ञः क्षत्रं ब्रह्म च॥[47]

जिस प्रकार उस्तरा (क्षुर) अपनी डिबिया में एवं अग्नि अग्नि-गृह में रहती है,

---

43 कौषी० ब्रा० उप०, 3.7
44 कौषी० ब्रा० उप०, 3.8
45 वही
46 वही
47 प्रश्न उप०, 2.6

वैसे ही यह प्रज्ञात्मा प्राण शरीर में प्रवेश करके लोम-पर्यंत एवं नख-पर्यंत व्याप्त होकर रहता है :

> **यथा क्षुरः क्षुरधाने हितः स्याद्विश्वम्भरो वा विश्वम्भरकुलाय एवमेवैष प्राज्ञ आत्मेदं शरीरमनुप्रविष्ट आलोमभ्य आनखेभ्यः।**[48]

इस प्रज्ञात्मा प्राण पर सब निर्भर करते हैं जैसे कि किसी प्रमुख पर उसके जन।

जो प्रज्ञात्मा प्राण को इस प्रकार जानता है, वह सबमें श्रेष्ठता को, स्वाराज्य को, आधिपत्य को प्राप्त करता है, जो प्रज्ञात्मा प्राण को इस प्रकार जानता है :

> **तथो एवैवं विद्वान्सर्वेषां भूतानां श्रैष्ठ्यं स्वाराज्यं आधिपत्यं पर्येति य एवं वेद य एवं वेद।**[49]

---

48 कौषी॰ ब्रा॰ उप॰, 4.20

49 वही

शब्द-ब्रह्म प्राण

स्वेच्छा से कोई इस ध्वनि का उच्चारण नहीं करता, न तो कोई इसकी ध्वनि को निरुद्ध कर सकता है। प्राणियों के हृदय में स्थित 'देव' स्वयं इसका उच्चारण करता है।

स्वच्छन्द०[1]

आदि में 'शब्द' था, 'शब्द' ईश्वर के साथ था, 'शब्द' ईश्वर था।

बाइबिल[2]

जो शब्द से अभिव्यक्त नहीं है, जिससे शब्द अभिव्यक्त होता है—उसे तुम ब्रह्म जानो, उसे नहीं जिसकी उपासना की जाती है।

केन०[3]

'ओम' इस अक्षर की उपासना करनी चाहिए। 'ओम' उद्गीथ है :

ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत्।[4]

और प्राण उद्गीथ है। वस्तुतः प्राण 'उत्' है क्योंकि इस प्राण से ही सारा जगत् ऊपर उठा हुआ है :

एष उ वा उद्गीथः प्राणो वा उत्प्राणेन हीदꣳ सर्वमुत्तब्धम्।[5]

चैतन्य का प्रथम प्रकम्पन प्राण है और यह अपनी गति में अत्यन्त सूक्ष्म

---

1 नास्योच्चारयिता कश्चित्प्रतिहन्ता न विद्यते।
स्वयमुच्चरते देवः प्राणिनामुरसि स्थितः॥
स्वच्छन्द०, 7.57

2 गॉस्पल जॉन, 1.1

3 यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥
केन उप०, 4

4 छान्दो० उप०, 1.1.1

5 बृहद० उप०, 1.3.23

ध्वनि से युक्त है, यह ध्वनि ओम है।

प्राण गति है और गति स्वाभाविक रूप से ध्वनिमय है।

प्राण अपनी सर्वोच्च प्रथम अभिव्यक्ति में अत्यन्त सूक्ष्म एवं अस्फुट तथा गहन-गंभीर स्पन्दन है। इस सूक्ष्म प्राण के उच्चार अर्थात् उत्क्रमण से एक अव्यक्त एवं अस्पष्ट-सी ध्वनि स्फुरित होती है, वह वर्ण अर्थात् अक्षर है :

उक्तो य एष उच्चार-
स्तत्र योऽसौ स्फुरन् स्थितः।
अव्यक्तानुकृतिप्रायो
ध्वनिर्वर्णः स कथ्यते॥[6]

यह वर्ण एक है और नादात्मक है। इसी में अन्य समस्त वर्ण अव्यक्त एवं अभिव्यक्त रूप में अन्तर्हित-समाविष्ट रहते हैं। यह कभी अस्तमित या लुप्त नहीं होता, इसलिए इसे अनाहत कहते हैं—अकारण, स्वाभाविक एवं अप्रतिहत :

एको नादात्मको वर्णः सर्ववर्णाविभागवान्।
सोऽनस्तमितरूपत्वादनाहत इहोदितः॥[7]

वर्ण शब्दगत है, ध्वनियुक्त :

वर्णः शब्दगतः[8]

और शब्द प्राणनात्मा है। नादशक्ति से युक्त सारे वर्ण प्राण में स्थित हैं :

प्राणैकसंस्थिताः सर्वाः[9]

ये समस्त वर्ण प्राणात्मक होकर स्थित हैं :

वर्णाः प्राणात्मकाः स्थिताः[10]

मंत्र जो वर्ण, शब्द का समुच्चय है और पदरूप है, वह भी नित्य प्राण में ही संचरण करता है :

प्राणे चरति नित्यशः।[11]

---

6 तन्त्रा०, 5.131
7 तन्त्रा०, 6.217
8 स्वच्छन्द०, 5.77
9 स्वच्छन्द०, 4.246
10 स्वच्छन्द०, 4.252
11 स्वच्छन्द०, 4.254

शब्द एवं प्राण सदा संयुक्त हैं। शब्द प्राणमय हैं और प्राण शब्दात्मा है। जब शब्दात्मा प्राण लय को प्राप्त होता है, तब वहीं समस्त वर्ण लय को प्राप्त हो जाते हैं :

यत्र च शब्दात्मा प्राणो लयं याति, तत्रैव वर्णा लीयन्ते।[12]

प्राण गति है, अपने आरोहण में भी और अवरोहण में भी। गति अर्थात् स्पन्दन, कम्पन। और यह कम्पन ध्वनियुक्त है। प्राण में विद्यमान यह ध्वनि, यह नाद शब्द है, आद्य प्राण में विद्यमान आदि शब्द, जो सृजन करता है।

यह शब्द ओम है अर्थात् उद्गीथ और यह प्राण है।

इसीलिए मुख्य प्राण की उद्गीथ रूप में उपासना करने का निर्देश है क्योंकि प्राण ओम ध्वनि करता हुआ संचरण करता है :

य एवायं मुख्यः प्राणस्तमुद्गीथमुपासीत् ओमिति ह्येष स्वरन्नेति।[13]

जिस प्रकार मुख-रन्ध्र में प्राण (मुख्य प्राण) ओम ध्वनि करता हुआ प्रकम्पनशील रहता है, उसी प्रकार ब्रह्मांड के मुख-विवर में प्राण नाद करता हुआ संचरणशील है।

शब्द की व्याख्या में श्रीअरविन्द का कथन है,—"शब्द की अपनी बीज-ध्वनियाँ होती हैं, जो वेद के शाश्वत अक्षर 'ओम' का संकेत करती हैं और तान्त्रिकों की बीज ध्वनियों का—जो अपने अंदर वस्तुओं के विधान अथवा मूलतत्त्वों को वहन करती हैं; इसके अपने रूप हैं जो मनुष्य की सर्वश्रेष्ठ क्षमताओं के रूप में अभिव्यक्तिशील और प्रेरणापूर्ण वाणी के पीछे विद्यमान हैं और ये विश्व में वस्तुओं के रूपों को बाध्य करते हैं। शब्द की अपनी लय है,—क्योंकि यह अक्रम या अव्यवस्थित कम्पन नहीं है, बल्कि महान् ब्रह्मांडीय मापों एवं परिमितियों में संचरण करता है। इसकी लय के अनुरूप जगत् के नियम हैं, सामंजस्य और संयोजन हैं, प्रक्रियाएँ हैं, जिस जगत् का यह निर्माण करता है। जीवन स्वयं में ईश्वर की लय है।[14]

"मनुष्य की वाणी केवल एक अवर अभिव्यक्ति है और अपनी सर्वोच्चता में

---

12 क्षेमराजविवरण, स्वच्छन्द०, 4.248

13 छान्दो० उप०, 1.5.3

14 दि उपनिषद्स, वाल्यू० 12, पृ० 171

दिव्य 'शब्द' की, बीज ध्वनियों की केवल छाया मात्र है।"[15]

"संपूर्ण सृष्टि शब्द द्वारा अभिव्यक्त है"।[16]

"हम जानते हैं कि ध्वनि कम्पन में सृजन करने की शक्ति है—और रूपों को विनष्ट करने की; यह आधुनिक विज्ञान की साधारण मान्यता है। हमें यह स्वीकार करना है कि सब रूपों के पीछे ध्वनि का सृजनात्मक कम्पन है।"[17]

हमने अपने अध्ययन में देखा है कि प्राण आदित्य है। आदित्य स्वरमय है, इसके संचरण में नाद है। यह उद्गीथ है और उदित होने पर प्राणियों के लिए उच्च स्वर में गाता है :

य एवासौ तपति तमुद्गीथमुपासीतोद्यन्वा एष प्रजाभ्य उद्गायति।[18]

उपनिषद् में पुनः इस एकत्व को स्पष्ट किया गया है कि आदित्य एवं प्राण एक हैं। ये अपनी गति में भी समान हैं और उष्णता में भी। प्राण सस्वर गमन करता है और आदित्य भी स्वर-प्रत्यास्वर के साथ गमन करता है। प्राण को स्पष्ट रूप में 'स्वर' कहा गया है और आदित्य को स्वर-प्रत्यास्वर। ये दोनों ही उद्गीथ हैं, इसलिए दोनों की ही उद्गीथ रूप में उपासना करनी चाहिए :

समान उ एवायं चासौ चोष्णोऽयमुष्णोऽसौ स्वर इतीममाचक्षते स्वर इति प्रत्यास्वर इत्यमुं तस्माद्वा एतमिममुं चोद्गीथमुपासीत।[19]

इसी प्रकरण में प्राण के ही एक प्रकार व्यान को उद्गीथ अर्थात् ओम कहा गया है। व्यान को यहाँ विशिष्ट अर्थ प्रदान किया गया है। यह प्राण एवं अपान अथवा प्राण की प्रश्वसन-श्वसन गति का विराम स्थल है, संधि अथवा पड़ाव। प्राण एवं अपान अपनी गति में जहाँ मिलते हैं, वह व्यान-स्थान है। इस व्यान की उपासना उद्गीथ रूप में करनी चाहिए। यह व्यान ही वाणी है :

व्यानमेवोद्गीथमुपासीत यद्वै प्राणिति स प्राणो यदपानिति सोऽपानः। अथ यः प्राणापानयोः संधिः स व्यानो यो व्यानः सा वाक्।[20]

---

15 दि उपनिषद्स, वाल्यू॰ 12, पृ॰ 171-172

16 दि उपनिषद्स, वाल्यू॰ 12, पृ॰ 168

17 दि उपनिषद्स, वाल्यू॰ 12, पृ॰ 169

18 छान्दो॰ उप॰, 1.3.1

19 छान्दो॰ उप॰, 1.3.2

20 छान्दो॰ उप॰, 1.3.3

अन्यत्र प्राण को वाणी का पति होने के अर्थ में बृहस्पति कहा गया है :

एष एव उ बृहस्पतिर्वाग्वै बृहती तस्या एष पतिस्तस्मादु बृहस्पति।[21]

यह ही बृहस्पति है। वाक् ही बृहती है; उसका यह पति है, इसलिए यह बृहस्पति है। यह प्राण उस वाणी अर्थात् बृहती अर्थात् ऋक् का पति है क्योंकि यही उसे अभिव्यक्ति प्रदान करता है :

तस्या वाचो बृहत्या ऋच एष प्राणः पतिः। तस्या निर्वर्तकत्वात्।[22]

यह प्राणवायु ही है जो ऋक् को निष्पन्न करता है। उसका पालन करने के कारण यह उसका पति है। प्राण से ही वाणी का पालन होता है, क्योंकि प्राणहीन में शब्दोच्चारण की शक्ति नहीं होती। अतः यह बृहस्पति है, ऋचाओं का प्राण एवं आत्मा :

. . . मारुतनिर्वर्त्या हि ऋक्। पालनाद्वा वाचः पतिः। प्राणेन हि पाल्यते वाक्। अप्राणस्य शब्दोच्चारणसामर्थ्याभावात्। तस्मादु बृहस्पतिर्ऋचां प्राण आत्मेति।[23]

प्राण ही ब्रह्मणस्पति है। वाक् ही ब्रह्म है, उसका यह पति है :

एष उ एव ब्रह्मणस्पतिर्वाग्वै ब्रह्म तस्या एष पतिस्तस्मादु ब्रह्मणस्पतिः।[24]

'ओम' प्राणब्रह्म की अनाहत ध्वनि है, नित्य और शाश्वत। यह शब्द है, निरन्तर स्पन्दित शब्द, शब्द ब्रह्म, और यह प्राण है।

जिस ध्वनि को ऋषियों ने 'ओम' कहा है, तंत्रशास्त्र एवं शैवागम उस ध्वनि को 'सोऽहम्' कहते हैं।

शास्त्रों में प्राण को 'हंस' कहा गया है।

हंस नादात्मा प्राण है जो अपनी अंतःबाह्य गति में 'ह' तथा 'स' ध्वनि करता हुआ सर्व जगत् को व्याप्त करता है। व्यक्ति में यह श्वसन-प्रश्वसन की गति-क्रिया है।

---

21 बृहद० उप०, 1.3.20

22 शंकरभाष्य, बृहद० उप०, 1.3.20

23 वही

24 बृहद० उप०, 1.3.21

क्षेमराज इसे स्पष्ट करते हुए कहते हैं :

सकारेण बहिर्याति हकारेण विशेत्पुनः।
हंसहंसेत्यमुं मंत्रं जीवो जपति नित्यशः॥[25]

'स' ध्वनि करता हुआ श्वास बाहर जाता है और 'ह' ध्वनि करता हुआ अंदर प्रवेश करता है। इस हंस मंत्र को जीव अनायास ही नित्य जपता है इसलिए इसे अजपा जप कहा गया है।

प्राण-गति में 'हंस' अथवा 'सोऽहम्' ध्वनि का स्वाभाविक समावेश है। श्वसन-प्रश्वसन गति का हर चक्र इसे दोहराता है। प्राण में निहित यह ध्वनि सृष्टि-संहाररूप है :

सृष्टिसंहारबीजं च तस्य मुख्यं वपुर्विदुः।[26]

इस अव्यक्त एवं अस्फुट ध्वनि को स्पष्ट करने के लिए अभिनवगुप्त का कथन है कि सृष्टि-बीज एवं संहार-बीज इसके प्रमुख रूप हैं। ये इस ध्वनि के प्रकाशन के दो मुख्य स्थल हैं। 'स' सृष्टिबीज है और यह प्रश्वसन को प्रकट करता है। 'ह' संहारबीज है, यह श्वसन का परिचायक है।

प्राण जिस प्रकार गति है, वैसे ही यह नाद भी है :

नादः प्राणः।[27]

शास्त्रों में प्राण की द्विधा गति का व्यापक उल्लेख है। शैवागम के अनुसार प्राण का प्रगमन विश्व-क्रम को प्रकट करता है और प्राण की निवर्तन गति में वस्तु जगत् का लय घटित होता है।

इन दोनों प्राण-स्पंदनों में सस्वरता है—शब्द अथवा नाद—हं और स की ध्वनि। प्राण के इसी नादात्मक स्वरूप को 'हंस' की संज्ञा दी गयी है। नाद के रूप में प्राण की यह अभिव्यक्ति स्वाभाविक है और उसका नैसर्गिक संलक्षण है।

प्राण चैतन्य का प्रथम रूपान्तरण है :

प्राक् संवित् प्राणे परिणता

शुद्ध चैतन्य की निस्पन्दता प्राण में स्पन्दित होकर बाहर निष्क्रमण करती

---

25 क्षेमराजभाष्य, शिव०, 3.27

26 तन्त्रा०, 5.132

27 शंकरभाष्य, प्रपंच०, 4.9

है। प्राण का यह स्पन्दन शब्दात्मक है और यह रचनात्मक है। चैतन्य से प्राण के उद्‌भव के साथ ही यह ध्वनि उसके साथ न केवल संयुक्त है, बल्कि उसमें अन्तर्निष्ठ है। प्राण में जिस प्रकार गति स्वाभाविक है, वैसे ही ध्वनि भी स्वाभाविक है।

ब्रह्मांड की विराटता में प्राण का प्रतिनिधित्व करनेवाला तत्त्व वायु है, जिसका स्पर्श या जिसका संचलन मात्र शब्द को उत्पन्न करता है। यह वायु है जो आकाश में शब्द को प्रसृत करता है।

इस आद्या ध्वनि को परावाक् कहना संगत है। यह सूक्ष्मतम प्राण में अन्तःस्पन्दित सूक्ष्मतम ध्वनि है। इसमें अहम्, त्वम्, इदम् सब अविभक्त अवस्था में विद्यमान रहते हैं। नाम-रूपात्मक जगत् आत्मस्पन्दन में समाहित रहता है। पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी वाणी के ही अन्य प्रकार हैं जो प्राण की गति में आविर्भूत होते हैं। दिव्यशक्ति का सृजनात्मक स्पन्दन प्राण, अपनी अवरोहणशील गति में, भौतिक तत्त्व में विस्तृत होकर क्रिया को स्थापित करता है और इस प्रकार सृष्टि-क्रम सुव्यवस्थित होकर प्रकट होता है। प्राण की आरोहणशील गति में जब प्राण अपनी अनेक गतियों को एक प्रधान गति में एकत्रित कर लेता है, शब्द स्थिर, शांत, स्वाभाविक एवं समाहित हो जाता है, अर्थात्, जिस प्रकार समस्त गति-कम्पन एक गति में अंतर्भूत हो जाते हैं, वैसे ही समस्त ध्वनियाँ एक मूल ध्वनि में सन्निविष्ट हो जाती हैं, तब यह परम नाद की अवस्था होती है, ध्वनि का वैशिष्ट्य स्वाभाविक, अप्रतिहत ध्वनि के साथ एक हो जाता है।

जब प्राण शुद्ध चैतन्य में लय हो जाता है, पृथक् स्पन्दन से रहित, चित्-स्पन्दित, तब उसमें विद्यमान नाद भी लय को प्राप्त होता है। शब्द तब ज्योति में स्फुरणशील रहता है।

श्वसन-प्रश्वसन प्राण की अन्तर्बाह्य गति हैं। यह इनकी शब्दात्मक लय है जिस पर जीवन की क्रिया निर्भर करती है। व्यक्ति हो या समष्टि, लघु ब्रह्मांड हो या ब्रह्मांड, प्राण की गति ही इनकी क्रियात्मकता का आधार है।

उच्च स्तरों पर ध्वनि के स्पन्दन की व्याख्या में श्रीअरविन्द का कथन है,—"उच्चतर स्तर पर ध्वनि का पूर्ण प्रकम्पन वस्तुओं में निहित सत्य की परम विवेचन-क्षमता से अनुप्राणित है और उसका अभिव्यंजक है। साथ ही यह सृजनात्मक है और उस परम शक्ति से ओत-प्रोत है जो सुविवेचित सत्य को रूपों में उतारती है और स्तर से स्तर पर अवरोहण करती हुई इसे आकाशीय ध्वनि द्वारा भौतिक रूप-विषय में पुनः उत्पन्न करती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि 'शब्द'

द्वारा सृष्टि का सिद्धांत जो सत्य की शुद्ध अभिव्यंजना है, और आकाश में ध्वनि-कम्पन द्वारा भौतिक सृष्टि का सिद्धांत एक ही विचार के दो युक्तियुक्त ध्रुव हैं और तदनुकूल हैं। ये दोनों ही प्राचीन वैदिक दर्शन से सम्बद्ध हैं।"[28]

"यह परम 'शब्द' है। यह शुद्ध अस्तित्व का कम्पन है और अनन्त एवं सर्वशक्तिशाली चैतन्य की अनुबोधक एवं उत्पादक शक्ति से अनुप्राणित है।"[29]

शब्द के संदर्भ में तंत्रागम में कुंडलिनी को प्राण-कुंडलिनी भी कहा गया है। यही हंस कुंडलिनी है। इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है :

"कुंडलिनी जाग्रत होकर समस्त चक्रों अथवा ऊर्जा-केन्द्रों का उत्तरोत्तर भेदन करती हुई अंत में ब्रह्मरंध्र में विलीन हो जाती है। इसे 'प्राण कुंडलिनी' कहा गया है।"[30]

यहाँ एक प्रश्न प्रस्तुत किया जाता है—

ईश्वर की मूल प्रकृति चक्रों में वर्णों के रूप में विद्यमान कोई रहस्यमय शक्ति है या यह 'अनच्क' अर्थात् स्वररहित 'ह' है जो 'प्राण कुंडलिनी' के रूप में स्पन्दनशील है ?

"वस्तुतः स्वररहित 'ह' ही अनाहत नाद है। सुषुम्ना में विद्यमान प्राणशक्ति अविराम एवं स्वाभाविक रूप से स्वररहित रूप में 'ह' को स्पन्दित करती है। इसे प्राणशक्ति की अनच्क कला कहते हैं और यही अनाहत नाद है। यह बिना किसी आघात के होनेवाला स्पन्दन है और नैसर्गिक रूप से स्पन्दनशील है। न तो कोई इसे उत्पन्न करता है और न कोई इसके स्पन्दन को रोक सकता है। यही 'हंस' अथवा प्राण कुंडलिनी के रूप में मान्य है।"[31]

"श्वसन में 'ह' ध्वनि उत्पन्न होती है और प्रश्वसन में 'स' ध्वनि। इन दोनों के सन्धिस्थल में 'म्' ध्वनि इनके साथ संयुक्त हो जाती है। यही हंस है।"[32]

प्राणशक्ति निरन्तर, और नैसर्गिक रूप से 'हंस' ध्वनि करती हुई स्थित रहती है।

---

28 दि उपनिषद्स्, वाल्यू० 12, पृ० 170-171

29 दि उपनिषद्स्, वाल्यू० 12, पृ० 171

30 जयदेवसिंह, अनुवाद एवं व्याख्या, विज्ञान०, पृ० 26

31 जयदेवसिंह, अनुवाद एवं व्याख्या, विज्ञान०, पृ० 9

32 जयदेवसिंह, अनुवाद एवं व्याख्या, विज्ञान०, पृ० 21

संस्कृत भाषा के समस्त वर्णों को 'मातृका' कहा जाता है। यह संपूर्ण विश्व इस मातृका शक्ति से व्याप्त है :

तया व्याप्तमिदं विश्वं सब्रह्मभुवनान्तकम्।[33]

तन्त्रशास्त्र में वर्णमाला और समस्त चक्रों में निहित विभिन्न वर्णों पर व्यापक विचार किया गया है। एक सूत्र के भाष्य में 'शब्दराशि' के रूप में भगवद् सत्ता का उल्लेख है :

विद्याशरीरी भगवान् शब्दराशिः।[34]

'परावाक्' कुंडलिनी अथवा प्राणशक्ति है जो पश्यन्ती, मध्यमा एवं वैखरी के रूप में स्वयं को अभिव्यक्त करती है।

शब्द के विषय में श्रीपंडित का कथन है—"ऐसे क्रमबद्ध सोपान हैं जिनमें मूल शब्द, शब्द ब्रह्म स्वयं को अभिव्यक्त करता है। प्रथम है परा। . . . यहाँ शब्द गतिरहित है। यह मूलाधार चक्र में कारण शब्द के रूप में विद्यमान रहता है। यह अनभिव्यक्त परा शब्द ही कुंडलिनी शक्ति है।"[35]

इसी परा शब्द या परा वाक् की किंचित् गतिशील स्थितियाँ पश्यन्ती एवं मध्यमा वाक् हैं। मध्यमा में सूक्ष्म नाम-रूप प्रकट होते हैं। यहाँ शब्द को 'हिरण्यगर्भ' शब्द कहा जाता है जो प्राण की ही एक संज्ञा है।

चतुर्थ वैखरी वाक् है। इस अवस्था में मध्यमा शब्द विराट् शब्द के रूप में स्थूल एवं बाह्य रूप से प्रक्षेपित होता है। यह उच्चारित वाणी है जो कंठ (विशुद्ध चक्र) से निःसृत होती है।

'ओम' एवं 'सोऽहम्' परम शब्द हैं।

एक वैदिक विद्वान् के शब्दों में, "शब्द अनिर्वचनीय परम सत्ता के रूप में अवरोहित होकर स्वयं को 'ओम' रूप में अभिव्यक्त करता है और यह 'ओम' शब्द है जो प्रतीयमान जगत् का रूप ग्रहण करता है। यह परावाक् या शब्द ब्रह्मन् है, परम सत्ता, जिससे यह जगत् उद्‌भूत होता है।"[36]

---

33 तन्त्रसद्‌भाव से उद्धृत

34 क्षेमराज भाष्य, शिव०, 2.3

35 एम० पी० पंडित, कुंडलिनी योग, पृ० 28

36 वी० मधुसूदन रेड्डी, दि वैदिक एपिफेनी, पृ० 14

जब ख्रीस्ती संहिता यह कहती है कि "आदि में शब्द था, शब्द ईश्वर के साथ था, शब्द ईश्वर था"—तब वह उस शब्द की ओर संकेत करती है जो सृष्टि के पूर्व विद्यमान था और भारतीय योगशास्त्र जिसे ईश्वरवाचक मानता है, जो ओम है, प्रणव :

तस्य वाचकः प्रणवः।[37]

"शब्द स्वयं में एक सूक्ष्म कम्पन है। यह जगत् न केवल इस 'शब्द' से रचा गया है बल्कि इस शब्द द्वारा स्थित है। यह शब्द ही है जो कम्पन के असंख्य रूपों में विभेद को प्राप्त होता है और कम्पन के ये असंख्य रूप ही इस जगत् के मूल में विद्यमान हैं।"[38]

श्रीअरविन्द के शब्दों में, "शब्द शक्ति है, शब्द सृजन करता है। संपूर्ण सृष्टि अभिव्यक्ति ही है, सब कुछ उस 'अनन्त' के गुहागृह में पहले से ही विद्यमान रहता है—**गुहा हितम्**, और उसे क्रियाशील चैतन्य के द्वारा प्रत्यक्षता में केवल बाहर लाया जाता है। वैदिक चिंतन की कुछ विचारधाराओं में तो यह तक मान्य है कि जगत् शब्द देवता की रचना है और ध्वनि अथवा शब्द प्रथम (आकाशीय) कम्पन के रूप में रचना से पूर्ववर्ती है।"[39]

अपने अध्ययन में हर शीर्षक के अन्तर्गत हमने जाना है कि प्राण गति है, अपनी हर सामान्यता और विशिष्टता में भी, अपनी सर्वोच्च दिव्यता में, अपनी अधःगामिनी अवस्थिति और भौतिक द्रव्य में अपनी सन्निविष्टता में भी। प्राण का सर्वाधिक सूक्ष्म कम्पन भी गति है और सर्वाधिक स्थूल आवेष्टन भी गति है। और यह गति अथवा कम्पन शब्दमय है।

जगत् की सृष्टि या जगत् के आविर्भाव का आधार शब्द है या प्राण, यह प्रश्न दुहरा नहीं है, क्योंकि यह प्राण ही है जो अपने कम्पन में शब्दमय है और यह शब्द प्राण से अलग नहीं है।

प्राण में शब्द अन्तर्भूत है। यह प्राण का कम्पन है जो शब्द उत्पन्न करता है।

---

37 योग॰, समाधि॰, 27

38 आई॰ के॰ तैमनी, दि साइंस ऑफ योग, पृ॰ 63

39 दि सीक्रेट ऑफ दि वेद, वाल्यू॰ 10, पृ॰ 258

हमने देखा है कि प्राण हिरण्यगर्भ है। यह प्रथम जात, प्रथम प्रकट सत्ता है। तन्त्रागम के तत्त्वों में प्रथम अभिव्यक्त तत्त्व सदाशिव है और यह शब्दब्रह्मन् है :

शब्दब्रह्मेति तं प्राह साक्षात् देवः सदाशिवः,
अनाहतेषु चक्रेषु स शब्दः परिकीर्त्तनेत्।
अनाहतं महाचक्रं हृदये सर्वजन्तुषु
तत्र ओंकार इत्युक्तो गुणत्रय-समन्वितः।[40]

शब्द ब्रह्मन् देव सदाशिव है। शब्द अनाहत चक्र में विद्यमान बताया जाता है। अनाहत नाम का महाचक्र सर्वप्राणियों के हृदय में स्थित है। ओंकार वहाँ तीन गुणों से युक्त कहा गया है।

सदाशिव शब्दब्रह्मन् है। प्राण शब्दब्रह्मन् है। सदाशिव एवं प्राण का ऐक्य स्वीकार किया जाना चाहिए, क्योंकि शब्द ब्रह्म, अथवा ओंकार के रूप में दोनों की ही अवस्थिति हृदय में है। . . . अनाहत चक्र का तत्त्व भी वायु है जो प्राण का प्रतिनिधित्व करता है। पशु भी हिरण है जो वायु का वाहन है और गति एवं द्रुतगमन जिसका स्वभाव है।

तंत्रागम की कुंडलिनी शक्ति प्राणशक्ति है। वस्तुतः यह कुंडलिनी रूप में प्राण देवता है, प्राणशक्ति, जो श्वासोच्छ्वास के विभाजन द्वारा इस जगत् के जीवों को धारण करती है :

श्वासोच्छ्वासविभंजनेन जगतां जीवो यया धार्यते।[41]

"यह दृश्यमान जगत्, जो अनेक स्तरों पर विद्यमान है और असंख्य प्रतिभासों से युक्त है, इसका आधार अनेक प्रकार के और अनेक परिणाम के कम्पनों का एक आश्चर्यजनक रूप से जटिल और विशाल समुच्चय है। ऊर्जा के ये कम्पन इस अभिव्यक्त जगत् की न केवल उपादान सामग्री का निर्माण करते हैं बल्कि अपनी क्रियाओं एवं अन्तःक्रियाओं के द्वारा विभिन्न स्तरों की हर घटना या प्रतीयमानता को भी उत्पन्न करते हैं। . . . असंख्य प्रकार के अनन्त रूप से संश्लिष्ट ये कम्पन 'एकमेव कम्पन' की अभिव्यक्तियाँ हैं और यह 'एकमेव कम्पन' उस सर्वशक्तिशाली सत्ता के संकल्प या उसकी स्वेच्छा से उत्पन्न है जो इस अभिव्यक्त जगत् का, सौरमंडल का या ब्रह्मांड का अधिष्ठाता देवता है। यह अद्भुत, आदि और

---

40 उद्धृत, दि सर्पेन्ट पॉवर, पृ० 120

41 प्राणतोषिनी, षड्चक्रनिरूपण, 11

समग्र कम्पन, जिससे समस्त कम्पन व्युत्पन्न हुए हैं, शब्द ब्रह्मन् है, नाद के रूप में विद्यमान वह परम सत्ता।''[42]

जिस प्रकार समष्टि प्राण की गति अविभक्त एवं सूक्ष्म होती है, उसी प्रकार उसकी ध्वनि भी अन्तःगर्भित एवं अव्यक्त होती है। जिस प्रकार समष्टि प्राण व्यष्टि प्राण का कारण है, उसी प्रकार उसमें निहित अव्यक्त शब्द व्यक्त शब्द का कारण है। 'गुहाचर' अथवा 'गर्भ' में संचरित प्राण का 'अव्यक्त रव' ध्वनि का वह मूल तत्त्व है जो अविभेदीय है तथा तब तक जो स्वयं को अक्षरों अथवा वर्णमाला के रूप में विभक्त नहीं करता है। यह सृजनात्मक क्रिया है जो व्यक्त शब्द को प्रकट करती है।

अभिव्यक्ति में प्राण की अनेक गतियाँ हैं। जैसे सूर्य सहस्त्ररश्मि है, वैसे ही प्राण भी सहस्त्र गतिसंपन्न है।

अभिव्यक्ति में प्राण अनेक और पृथक् पथ ग्रहण करता है। वह पृथग्वर्त्मात्मा है :

प्राणः पृथग्वर्त्मात्मा।[43]

प्राण की नाना, विविध तथा परिवर्ती गतियाँ चेतना के विविध स्तरों पर, तदनुकूल, वर्णमाला की विभिन्न अक्षर-ध्वनियों का सृजन करती हैं।

प्राण स्त्रष्टा है
शब्द स्त्रष्टा है
और ये दोनों एक हैं।

प्राण ब्रह्म है
शब्द ब्रह्म है
और इनमें द्वित्व नहीं है।

प्राण की अन्तर्निहित सृजनशीलता शब्द है—प्राण का अपना स्वर, अपनी ध्वनि, जो शब्दब्रह्म के रूप में अभिहित है।

प्राण और शब्द अन्तर्निष्ठ रूप से एक हैं।

प्राण ब्रह्म ही शब्द ब्रह्म है।

---

42 आई० के० तैमिनी, दि साइंस ऑफ योग, पृ० 64

43 छान्दो० उप०, 5.18.2

संकेताक्षर

अथर्व	अथर्ववेद
ऋग्	ऋग्वेद
उप	उपनिषद
ईश्वर	ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी
ऐत	ऐतरेय
कौषी	कौषीतकि
गौडपाद	गौडपादकारिका
छान्दो	छान्दोग्य
जैमि	जैमिनीय
तन्त्रा	श्रीतन्त्रलोक
तैत्ति	तैत्तिरीय
प्रत्यभिज्ञा	प्रत्यभिज्ञाहृदयम्
प्रपंच	प्रपंचसारतन्त्र
पृ.	पृष्ठ
बृहद	बृहदारण्यक
ब्रा	ब्राह्मण
मांडू	मांडूक्य
यजु	यजुर्वेद
योग	योगसूत्र
वाल्यू	वाल्यूम
विज्ञान	विज्ञानभैरव
शत	शतपथ
शिव	शिवसूत्र
शिक्षा	शिक्षावल्ली
श्वेता	श्वेताश्वतर
समाधि	समाधिपाद
स्वच्छन्द	श्रीस्वच्छन्दतन्त्र
हठयोग	हठयोगप्रदीपिका

संदर्भ ग्रंथ

श्रीअरविन्द, बर्थ सेन्टिनरी वाल्यूम्स, श्रीअरविन्द आश्रम, पांडिचेरी
दि उपनिषद्स, वाल्यू 12
ऍस्सेज़ ऑन दि गीता, वाल्यू॰ 13
कलेक्टेड पोयम्स, वाल्यू॰ 5
दि आवर ऑफ गॉड, वाल्यू॰ 17
दि लाइफ़ डिवाइन, वाल्यू॰ 18, 19
दि लैटर्स ऑन योग, वाल्यू॰ 22
सप्लिमेंट, वाल्यू॰ 27
सावित्री, वाल्यू॰ 28
दि सिन्थेसिस ऑफ योग, वाल्यू॰ 20
दि सीक्रेट ऑफ दि वेद, वाल्यू॰ 10
हिम्स टु दि मिस्टिक फायर, वाल्यू॰ 11

एस॰ राधाकृष्णन्
दि प्रिंसिपल उपनिषद्स, हार्पर कॉलिन्स पब्लिशर्स, नई दिल्ली

सर जॉन वुडरॉफ (आर्थर एवेलन)
दि वर्ल्ड ऐज़ पावर, गणेश एंड कम्पनी, मद्रास
शक्ति एंड शाक्त " "
दि सर्पेन्ट पावर " "
दि गार्लैंड ऑफ लैटर्स " "
पर्यवेक्षित, प्रपंच सारतन्त्र, मोतीलाल बनारसीदास पब्लिशर्स, दिल्ली

एम॰ पी॰ पंडित
कुंडलिनी योग, लोटस लाइट पब्लिकेशन्स, यू॰ एस॰ ए॰

बी॰ एन॰ पंडित
स्पेसिफ़िक प्रिंसिपल्स ऑफ कश्मीर शैविज़्म, मुंशीराम मनोहरलाल पब्लिशर्स, नई दिल्ली

स्वामी दिव्यानन्द सरस्वती
वेदों में योगविद्या, यौगिक शोध संस्थान, ज्वालापुर, हरिद्वार

योगेश्वरानन्द परमहंस
प्राण विज्ञान, योग निकेतन ट्रस्ट, ऋषिकेश

आई० के० तैमिनी
दि साइंस ऑफ योग, दि थियोसिफ़िकल पब्लिशिंग हाउस, मद्रास

बी के एस अयंगर
लाइट ऑन द योगसूत्राज़ ऑफ पतंजलि, हार्पर कॉलिन्स पब्लिशर्स, नई दिल्ली

मूल संस्कृत ग्रंथ

वेद

अथर्ववेद, संस्कृति संस्थान, बरेली
अथर्ववेद सुबोध भाष्य, दामोदर सातवलेकर, स्वाध्याय मंडल, पारडी
अथर्ववेदसंहिता, डब्ल्यू डी० ह्विटनी, हार्वर्ड ओरियन्टल सीरीज़, वाल्यू० 8, मोतीलाल बनारसीदास पब्लिशर्स, दिल्ली
अथर्ववेद, देवीचन्द, मुंशीराम मनोहरलाल पब्लिशर्स, नई दिल्ली
ऋग्वेद, स्वामी दयानन्द सरस्वती, सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, नई दिल्ली
दि यजुर्वेद, देवीचन्द, मुंशीराम मनोहरलाल पब्लिशर्स, नई दिल्ली
सामवेद, एस० वी० गनपति, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली

उपनिषद्

ईश उप० (दि उपनिषद्स, श्रीअरविन्द)
ऐतरेय उप० (दि उपनिषद्स, श्रीअरविन्द)
कठ उप० (दि उपनिषद्स, श्रीअरविन्द)
केन उप० (दि उपनिषद्स, श्रीअरविन्द)
कौषीतकि ब्राह्मण उप० (दि प्रिंसिपल उपनिषद्स, एस० राधाकृष्णन्)
छान्दोग्य उपनिषद् (दि प्रिंसिपल उपनिषद्स, एस० राधाकृष्णन् तथा गीताप्रेस, गोरखपुर संस्करण)
तैत्तिरीय उप० (दि उपनिषद्स, श्रीअरविन्द; दि प्रिंसिपल उपनिषद्स, एस० राधाकृष्णन्)
प्रश्न उप० (दि उपनिषद्स, श्रीअरविन्द)

बृहदारण्यक उप० (दि प्रिंसिपल उपनिषद्स्, एस० राधाकृष्णन्)
मांडूक्य उप० (दि उपनिषद्स्, श्रीअरविन्द)
मुंडक उप० (दि उपनिषद्स्, श्रीअरविन्द)
मैत्री उप० (दि प्रिंसिपल उपनिषद्स्, एस० राधाकृष्णन्)
श्वेताश्वतर उप० (दि प्रिंसिपल उपनिषद्स्, एस० राधाकृष्णन्; तथा अद्वैत आश्रम, कलकत्ता संस्करण)

लघु उपनिषद् (ईशाद्यष्टोत्तरशतोपनिषदः, वासुदेव लक्ष्मण पणशीकर, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी)
अमृतबिन्दु उप०
कैवल्य उप० (सेंट्रल चिन्मय मिशन ट्रस्ट, मुंबई)
गर्भ उप०
चूलिका उप०
जाबाल उप०
जैमिनीय उप०
नारायण उप०
मुक्तिकोपनिषद्
हंस उप०
क्षुरिक उप०

ब्राह्मण
शतपथ ब्रा०, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी

तन्त्रागम शैवदर्शन ग्रंथ
ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, अभिनवगुप्त, मोतीलाल बनारसीदास पब्लिशर्स, दिल्ली
श्रीतन्त्रालोक, अभिनवगुप्त, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी
श्रीतत्त्वचिन्तामणि, पूर्णानन्द, मोतीलाल बनारसीदास पब्लिशर्स, दिल्ली
नेत्रतन्त्रम्, मृत्युंजय भट्टारक, परिमल पब्लिकेशन्स, दिल्ली
पराप्रवेशिका, क्षेमराज
परात्रीशिका विवरण, अभिनवगुप्त, मोतीलाल बनारसीदास पब्लिशर्स, दिल्ली
प्रत्यभिज्ञाहृदयम्, क्षेमराज, अनुवाद टीका जयदेवसिंह, मोतीलाल बनारसीदास पब्लिशर्स, दिल्ली
योगिनीहृदयम्, मोतीलाल बनारसीदास पब्लिशर्स, दिल्ली

विज्ञानभैरव, अनुवाद-व्याख्या जयदेवसिंह, मोतीलाल बनारसीदास पब्लिशर्स, दिल्ली
शिवसंहिता, अनुवाद श्रीशचन्द्र वसु, मुंशीराम मनोहरलाल पब्लिशर्स, नई दिल्ली
श्रीस्वच्छन्दतन्त्रम्, क्षेमराज, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी
स्पन्दकारिका, अनुवाद-व्याख्या जयदेवसिंह, मोतीलाल बनारसीदास पब्लिशर्स, दिल्ली

अन्य मूल ग्रंथ

गौडपादकारिका (श्रीअरविन्द, दि उपनिषद्स्, वाल्यू० 12)
भगवद्गीता, चिन्मयानन्द मिशन ट्रस्ट, मुंबई
योगवासिष्ठ, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली
हठयोगप्रदीपिका, बिहार स्कूल ऑफ योग, मुंगेर

परिशिष्ट

हिरण्यगर्भ-सूक्त

[ऋग्वेद 10.121]

हिरण्यगर्भः समर्ततताग्रे
भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां
कस्मै देवाय हविषा विधेम॥1
सृष्टि की प्राग् अवस्था में हिरण्यगर्भ का उदय हुआ।
वह संपूर्ण जगत् का उद्भूत एकमेव स्वामी था।
वह पृथिवी, द्यु एवं अन्य सर्व का आधार था।
हम हवि से अन्य किस देव की उपासना करें ?

य आत्मदा बलदा यस्य विश्व
उपासते प्रशिषं यस्य देवाः।
यस्य च्छायामृतं यस्य मृत्युः
कस्मै देवाय हविषा विधेम॥2
जो प्राण एवं जीवन एवं बल का प्रदाता है।
जिसकी सब उपासना करते हैं जिसके आदेशों का पालन देवता भी करते हैं।
जिसकी छाया अमृत है और मृत्यु भी।
हम हवि से अन्य किस देव की उपासना करें ?

यः प्राणतो निमिषतो महित्वैक
इद्राजा जगतो बभूव।
य ईशे अस्य द्विपदश्चतुष्पदः
कस्मै देवाय हविषा विधेम॥3
जो श्वास लेनेवाले तथा सुषुप्त
जगत् का अपनी महिमा के कारण एक ही राजा है।
जो मानव एवं पशुजगत् का ईश है।
हम अपनी हवि से अन्य किस देव की उपासना करें ?

यस्येमे हिमवन्तो महित्वा
यस्य समुद्रं रसया सहाहुः।
यस्येमाः प्रदिशो यस्य बाहू
कस्मै देवाय हविषा विधेम॥4

ये हिमाच्छादित पर्वत जिसकी महिमा से स्थित हैं।
नदियों के साथ ये समुद्र जिसकी महिमा को कहते हैं।
आकाश की ये दिशाएँ जिसकी बाहु हैं।
हम हवि से अन्य किस देव की उपासना करें।

येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृळहा
येन स्व स्तभितं येन नाकः।
यो अन्तरिक्षे रजसो विमानः
कस्मै देवाय हविषा विधेम॥5

जो द्युलोक का आधार है जिसने पृथिवी को
दृढ़तापूर्वक स्थित किया है। जो दिव्य लोकों को
स्थापित करता है और सूर्य को तथा जो अन्तरिक्ष
को मापता है। हम अपनी हवि से
अन्य किस देव की उपासना करें?

यं क्रन्दसी अवसा तस्तभाने
अभ्यैक्षेतां मनसा रेजमाने।
यत्राधि सूर उदितो विभाति
कस्मै देवाय हविषा विधेम॥6

उसकी शक्ति से रक्षित द्यौ और पृथिवी
अपने अन्तरमन से जिसकी ओर देखते हैं।
जिसके अधिनियम में उदित हुआ सूर्य
देदीप्यमान चमकता है। हम हवि से
अन्य किस देव की उपासना करें?

आपो ह यद् बृहतीर्विश्वमायन्
गर्भं दधाना जनयन्तीरग्निम्।
ततो देवानां समवर्ततासुरेकः
कस्मै देवाय हविषा विधेम॥7

जब महान् जलों ने, हिरण्मयाण्ड को धारण कर,
अग्नि को जन्म दिया।
तब वहाँ से देवताओं का 'एक श्वास' उद्भूत हुआ।
हम हवि से अन्य किस देव की उपासना करें ?

यश्चिदापो महिना पर्यपश्यद्
दक्षं दधाना जनयन्तीर्यज्ञम्।
यो देवेष्वधि देव एक आसीत्
कस्मै देवाय हविषा विधेम॥8
जिसके द्वारा जलों ने उत्पादक शक्ति को
धारण कर, पवित्र यज्ञ को उत्पन्न किया।
सब देवों में वह एक देव है।
हम हवि से अन्य किस देव की उपासना करें ?

मा नो हिंसीज्जनिता यः पृथिव्या
यो वा दिवं सत्यधर्मा जजान।
यश्चापश्चन्द्रा बृहतीर्जजान
कस्मै देवाय हविषा विधेम॥9
जो स्वर्ग और पृथिवी दोनों का पिता है।
वह हमें आहत न करे, जिसके नियम
चिरस्थायी एवं सत्य हैं, महान् चमकीले
जलों के जनक। हम हवि से
अन्य किस देव की उपासना करें ?

प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा
जातानि परि ता बभूव।
यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु
वयं स्याम पतयो रयीणाम्॥10
हे प्रजाओं के स्वामी, हम सबके जनक,
यह तुम हो जो सर्व का आलिंगन करते हो,
अन्य कोई नहीं। स्वीकारो कि हम प्रार्थना कर सकें—
कि हम नाना सम्पदाओं के स्वामी हों॥

प्राण-सूक्त

[अथर्ववेद 11.4]

प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे।
यो भूतः सर्वस्येश्वरो यस्मिन्त्सर्वं प्रतिष्ठितम्॥1
जिसके वश में यह संपूर्ण जगत् है,
उस प्राण को नमस्कार है।
यह प्राण सबका ईश्वर है और
इसमें सारा जगत् प्रतिष्ठित है।

नमस्ते प्राण क्रन्दाय नमस्ते स्तनयित्नवे।
नमस्ते प्राण विद्युते नमस्ते प्राण वर्षते॥2
हे प्राण, गर्जन करनेवाले तुझे नमस्कार है।
नाद करनेवाले तुझे नमस्कार है।
हे प्राण, चमकनेवाले तुझे नमस्कार है।
हे प्राण, बरसनेवाले तुझे नमस्कार है।

यत् प्राण स्तनयित्नुनाभिक्रन्दत्योषधीः।
प्र वीयन्ते गर्भान् दधतेऽथो बह्वीर्वि जायन्ते॥3
हे प्राण, जब तुम मेघों के द्वारा,
ओषधियों के प्रति गर्जना करते हो,
तब वे तेजस्वी होती हैं, गर्भ धारण
करती हैं और बहुल होकर उत्पन्न होती हैं।

यत् प्राण ऋतावागतेऽभिक्रन्दत्योषधीः।
सर्वं तदा प्र मोदते यत् किं च भूम्यामधि॥4
हे प्राण, ऋतु के आगमन पर जब तुम
ओषधियों के प्रति गर्जना करते हो,
तब सब जगत् आनन्दित होता है,
जो कुछ भी इस भूमि पर है।

यदा प्राणो अभ्यवर्षीद् वर्षेण पृथिवीं महीम्।
पशवस्तत् प्र मोदन्ते महो वै नो भविष्यति ॥5
जब प्राण वर्षा द्वारा इस महान् भूमि पर
बरसता है, तब पशु हर्षित होते हैं।
वे निश्चय से जानते हैं कि
"अब हमारी वृद्धि होगी।"

अभिवृष्टा ओषधयः प्राणेन समवादिरन्।
आयुर्वै नः प्रातीतरः सर्वा नः सुरभीरकः ॥6
ओषधियों पर वृष्टि होने के पश्चात्
वे प्राण से सम्भाषण करती हैं:
"तुमने हमारी आयु बढ़ा दी है
और हम सबको सुगन्धित कर दिया है"।

नमस्ते अस्त्वायते नमो अस्तु परायते।
नमस्ते प्राण तिष्ठत आसीनायोत ते नमः ॥7
हे प्राण, आगमन करनेवाले तुझे नमस्कार है।
गमन करनेवाले तुझे नमस्कार है।
खड़े रहनेवाले प्राण के लिए नमस्कार है।
आसीन रहनेवाले प्राण के लिए नमस्कार है।

नमस्ते प्राण प्राणते नमो अस्त्वपानते।
पराचीनाय ते नमः प्रतीचीनाय ते नमः सर्वस्मै त इदं नमः ॥8
प्राण-क्रिया करनेवाले प्राण को नमस्कार है।
अपान क्रिया करनेवाले प्राण को नमस्कार है।
आगे बढ़नेवाले और पीछे हटनेवाले प्राण के लिए
नमस्कार है। सर्व के लिए प्राण को नमस्कार है।

या ते प्राण प्रिया तनूर्यो ते प्राण प्रेयसी।
अथो यद् भेषजं तव तस्य नो धेहि जीवसे ॥9
हे प्राण, जो तेरा प्रिय शरीर है और
हे प्राण, जो तेरा प्रियतर है,
और जो तेरी ओषधि है,
जीवन के लिए उसे हमें प्रदान कर।

प्राणः प्रजा अनु वस्ते पिता पुत्रमिव प्रियम्।
प्राणो ह सर्वस्येश्वरो यच्च प्राणति यच्च न॥10
प्राण प्रजाओं को इस प्रकार आवृत करता है,
जैसे एक पिता अपने प्रिय पुत्र को।
प्राण सबका ईश्वर है, वह
जो श्वास लेता है और जो नहीं लेता है।

प्राणो मृत्युः प्राणस्तक्मा प्राणं देवा उपासते।
प्राणो ह सत्यवादिनमुत्तमे लोक आ दधत्॥11।
प्राण ही मृत्यु है, प्राण ही जीवन है।
सब देव प्राण की ही उपासना करते हैं।
यह प्राण ही है जो सत्यवादी को
उत्तम लोक में स्थित करता है।

प्राणो विराट् प्राणो देष्ट्री प्राणं सर्व उपासते।
प्राणो ह सूर्यश्चन्द्रमाः प्राणमाहुः प्रजापतिम्॥12
प्राण विशेष तेजस्वी है और प्राण ही
सबका निर्देशक है। प्राण की सब
उपासना करते हैं। सूर्य, चन्द्रमा
और प्रजापति प्राण को ही कहते हैं।

प्राणापानौ व्रीहियवावनड्वान् प्राण उच्यते।
यवे ह प्राण आहितोऽपानो व्रीहिरुच्यते॥13
प्राण और अपान चावल और जौ हैं।
प्राण को वृषभ कहा गया है।
जौ में प्राण स्थित है और
चावल अपान को कहते हैं।

अपानती प्राणति पुरुषो गर्भे अन्तरा।
यदा त्वं प्राण जिन्वस्यथ स जायते पुनः॥14
प्राणी गर्भ के अंदर प्राण और अपान की
क्रिया करता है। हे प्राण,
जब तुम प्रेरणा करते हो, तब
वह पुनः उत्पन्न होता है।

प्राणमाहुर्मातरिश्वानं वातो ह प्राण उच्यते।
प्राणे ह भूतं भव्यं च प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम्॥15
प्राण को मातरिश्वा कहते हैं।
वायु को प्राण कहा गया है।
भूत और भविष्य में जो था या होगा,
प्राण में है। सब प्राण में ही प्रतिष्ठित है।

आथर्वणीराङ्गिरसीर्दैवीर्मनुष्यजा उत।
ओषधयः प्र जायन्ते यदा त्वं प्राण जिन्वसि॥16
आथर्वणी और आङ्गिरसी ओषधियाँ,
दैवी और मनुष्यकृत ओषधियाँ,
हे प्राण, ये तभी उत्पन्न होती हैं,
जब तुम प्रेरणा करते हो।

यदा प्राणो अभ्यवर्षीद् वर्षेण पृथिवीं महीम्।
ओषधयः प्र जायन्तेऽथो याः काश्च वीरुधः॥17
जब प्राण इस विशाल पृथिवी पर
वर्षा के रूप में बरसता है,
तब ओषधियाँ उत्पन्न होती हैं,
और वृक्ष, वनस्पति आदि भी।

यस्ते प्राणेदं वेद यस्मिंश्चासि प्रतिष्ठितः।
सर्वे तस्मै बलिं हरानमुष्मिंल्लोक उत्तमे॥18
हे प्राण, जो तुम्हारी इस महिमा को जानता है,
और जिसमें तुम प्रतिष्ठित हो,
उस मनुष्य के लिए उस उत्तम लोक में
सभी उपहार और सम्मान अर्पित करते हैं।

यथा प्राण बलिहृतस्तुभ्यं सर्वाः प्रजा इमाः।
एवा तस्मै बलिं हरान् यस्त्वा शृणवत् सुश्रवः॥19
हे प्राण, ये सारी प्रजाएँ, जिस प्रकार,
उपहार अर्पित करती हैं, वैसे ही वे
उसके लिए भी उपहार अर्पित करेंगी,
जो ध्यानपूर्वक तुम्हारा श्रवण करता है।

अन्तर्गर्भश्चरति देवतास्वाभूतो भूतः स उ जायते पुनः।
स भूतो भव्यं भविष्यत् पिता पुत्रं प्र विवेशा शचीभिः॥20
देवताओं में यह प्राण है जो गर्भ में संचरण करता है।
जो पहले हुआ था, वह पुनः उत्पन्न होता है।
जो पहले था, वही अब है और वह भविष्य में भी होगा,
जिस प्रकार पिता अपनी शक्तियों से पुत्र में प्रविष्ट होता है।

एकं पादं नोत्खिदति सलिलाद्धंस उच्चरन्।
यदङ्ग स तमुत्खिदेन्नैवाद्य न श्वः स्यान्न रात्री नाहः स्यान्न व्युऽच्छेत् कदाचन॥21
जल से ऊपर उठता हुआ हंस एक पैर को
नहीं उठाता है। यदि वह उस दूसरे पैर को भी उठा ले,
तो न आज होगा न कल, न दिन होगा
न रात्रि, और न कभी सुबह ही होगी।

अष्टाचक्रं वर्तत एकनेमि सहस्राक्षरं प्र पुरो नि पश्चा।
अर्धेन विश्वं भुवनं जजान यदस्यार्धं कतमः स केतुः॥22
आठ चक्र सहित जो एक नेमियुक्त है, सहस्र अक्षरों से
युक्त वह प्राण सृष्टि से पूर्व भी था और पश्चात् भी होगा।
आधे भाग से इसने विश्व को उत्पन्न किया है,
जो इसका शेष आधा भाग है, वह किसका चिह्न है ?

यो अस्य विश्वजन्मन ईशे विश्वस्य चेष्टतः।
अन्येषु क्षिप्रधन्वने तस्मै प्राण नमोऽस्तु ते॥ 23
हे प्राण, तुम समस्त जन्म लेनेवाले प्राणियों के
और संपूर्ण क्रियाशील इस जगत् के
ईश्वर हो। अन्य सबमें तुम द्रुत गतिशील हो।
तुम्हें नमस्कार है।

यो अस्य सर्वजन्मन ईशे सर्वस्य चेष्टतः।
अतन्द्रो ब्रह्मणा धीरः प्राणो माऽनु तिष्ठतु॥ 24
जो जन्म लेनेवाले समस्त प्राणियों का
और क्रियाशील सबका ईश्वर है,
वह धैर्यवान प्राण निरालस्य होकर,
ब्रह्मशक्ति से पूर्ण सदा मेरे पास स्थित रहे।

ऊर्ध्वः सुप्तेषु जागार ननु तिर्यङ् नि पद्यते।
न सुप्तमस्य सुप्तेष्वनु शुश्राव कश्चन॥ 25

सबके सो जाने पर भी यह प्राण खड़ा रहकर
जागता है। कभी तिरछा होकर गिरता नहीं।
सब सोये हुओं में इसका सोना
कभी किसी ने सुना नहीं।

प्राण मा मत् पर्यावृतो न मदन्यो भविष्यसि।
अपां गर्भमिव जीवसे प्राण बध्नामि त्वा मयि॥ 26

हे प्राण, मुझसे दूर न होओ, मुझसे
विमुख न होओ। जल के गर्भ के समान
हे प्राण, जीवन के लिए मैं
तुम्हें अपने अंदर बाँधता हूँ।



केन्द्रीय योग एवं प्राकृतिक चिकित्सा अनुसंधान परिषद्
(आयुर्वेद, योग व प्राकृतिक चिकित्सा, यूनानी, सिद्ध एवं होम्योपैथी (आयुष) विभाग)
61-65, संस्थागत क्षेत्र, जनकपुरी, नई दिल्ली-110058
फोन: 25534717, 25557602, 25543725 फैक्स: 25613269
वेबसाइट: www.ccryn.org ई-मेल: ccryn@nda.vsnl.net.in



केन्द्रीय योग एवं प्राकृतिक चिकित्सा अनुसंधान परिषद्

(आयुर्वेद, योग व प्राकृतिक चिकित्सा, यूनानी, सिद्ध एवं होम्योपैथी (आयुष) विभाग)

61-65, संस्थागत क्षेत्र, जनकपुरी, नई दिल्ली-110058

फोन: 25534717, 25557602, 25543725 फैक्स: 25613269

वेबसाइट: www.ccryn.org ई-मेल: ccryn@nda.vsnl.net.in